मानवता के पथ पर

प्रवचन :

पं० मुनि श्री लाभचन्द्र जी

संपादन :

कुमार सत्यदर्शी

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

पुस्तक में योग !

प्रवचन : पं० मुनि श्री लाभचन्द्र जी.

शिल्प सम्पादन व सम्पादन :

कुमार सत्य दर्शी.

भूमिका : पं० हरिशंकर जी शर्मा.

आवरण चित्र : जगदीश.

प्रतीक चित्र : सत्यनारायण, जगदीश,

मदन गोपाल.

आवरण मुद्रण : काश्मीर प्रेस, आगरा.

प्रकाशन : सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा.

मुद्रण : प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा.

संस्करण : प्रथम, सन् १९६० ई०

एक रुपया
५० नये पैसे

समर्पण

जिन्होंने मुझे अपनी आत्मा का धन मानकर,
स्नेह एवं दुलार के मधुर उपालम्भों की थपकियाँ
दे उनींदी आँखें खोलीं......

जिन्होंने मुझे ज्ञान का मजूर नहीं, स्वामी
बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया......

जिन्होंने मुझे संयम के अग्नि पथ पर चलने
का बल एवं साहस दिया......

और

जिन्होंने मेरी आत्मा की जड़ों को करुणा के
पानी से सींच-सींच कर मुझे मानवतावादी
बनाया........
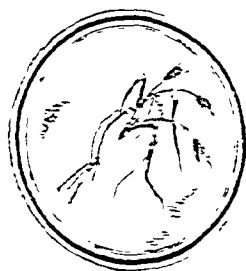
उन श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री
हजारीमल जी म० को छोड़ और
किसे करूँ यह लघुतम प्रयास
समर्पित........?

—लाभ मुनि

एक नया अध्याय

ज्ञानपीठ ने मौलिक विचारों की हमेशा कद्र की है। मानवता के पथ पर पुस्तक, मुनिराज श्री नेमिचन्द्र जी के क्रान्तिकारी प्रवचनों का संग्रह है। मुनि जी के प्रवचन नयी पीढ़ी की तर्कों और समस्याओं का मौलिक समाधान है। मानवतावादी दृष्टिकोण तथा उपयोगितावाद आपके चिन्तन के मूल स्वर हैं। अपने चिन्तन की गहराई द्वारा समस्याओं का मौलिक समाधान खोज निकालना—आपकी प्रमुख विशेषता है।

आज मानव विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। मानव ने मानवता को भुला दिया। वह स्वार्थ में डूब कर इतना खुदगर्ज होता जा रहा है कि दूसरों के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहता है। मानव भूला! बिसरा! पर यदि वह मानवता के पथ पर आ जाए तो कितना अच्छा हो! जीवन के प्रभात में ही भूले-बिसरे मानव को जीवन के मध्याह्न में या संध्या में कभी तो मानवता का पथ दीख पड़े! मुनि जी की प्रस्तुत पुस्तक इसी मंगल भावना से प्रेरित हो पाठकों के कर-कमलों में सौंपते हुए—मैं गहरे सुख की अनुभूति कर रहा हूँ।

ज्ञानपीठ ने अब तक जो साहित्य सेवा की है, उससे सहृदय समाज सुपरिचित ही है। साहित्य प्रकाशन अनेक संस्थाओं से रात-दिन होते ही

रहते हैं। किन्तु ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की अपनी एक विशेषता है—नयनाभिराम कवर, सुन्दर पुस्तक-शिल्प एवं बढ़िया मैकअप। इस तरह कलात्मक रूप में पुस्तक प्रकाशन करना—इस संस्था का रुचिकर विषय रहा है।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि कलात्मक प्रकाशन की दिशा में अब हम एक नया अध्याय कुमार सत्यदर्शी जी के सहयोग से जोड़ रहे हैं। संस्था के परिवार की ओर से मुझे दुहरा हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक के अधिकांश भाग का सम्पादन भी आपके द्वारा हुआ है तथा सम्पूर्ण पुस्तक का शिल्प सम्पादन भी। प्रत्येक प्रवचन के प्रारम्भ में एक चित्र है। इन प्रतीक चित्रों की भाव भूमि भी हमें आप ही से प्राप्त है और साथ ही प्रवचनों के प्रारम्भ में एक तत्-तत्, विषय का सार प्रस्तुत करने वाली मार्मिक टिप्पणी भी—इस तरह यह एक नये अध्याय का प्रारम्भ है।

पुस्तक में टिप्पणी जाना नयी बात अवश्य लग सकती है। वैसे नयापन तो प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ हो ही रहा है और वह होना भी चाहिए। अतः मैं विश्वास करूँ कि प्रयोगात्मक युग में यह नयापन अखरने जैसा तो नहीं है, अपितु मन को भाने जैसा अवश्य है।

ज्ञानपीठ को कुमार सत्यदर्शी जी का श्रम, सहयोग, लगन, और संपर्क सदा सुलभ होता रहे—हमारी यह हार्दिक मंगल भावना है। हमारे दूसरे सम्पादक महोदय के बौद्धिक श्रम से कुछ प्रवचन सम्पादित होकर हमें प्राप्त हैं; उन्हें भी धन्यवाद है। 'वे' इतने तपे हुए और अपने आप में परिपूर्ण हैं कि अपने सम्पादन के सम्बन्ध में कुछ न कहने और नाम न देने से ही वे सन्तुष्ट हैं।

अन्त में मुझे प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी अपने उन तीन उदार सेठियों का स्नेह स्मरण करना है, जिन्होंने दान स्वरूप १००१)—५५१) एवं १००) का मुनि नानचन्द्र जी म० के साहित्य प्रकाशन-निमित्त सहयोग देकर अपना नाम देने का भी लोभ संवरण कर लिया, उन महानुभावों का संस्था हार्दिक धन्यवाद करती है। ज्ञानपीठ की सेवाओं ने जन मानस पर कितना गहरा और स्थायी प्रभाव डाला है, यह मूक सेवकों की सेवाओं से स्पष्ट है।

इस संग्रह में एक भजन नहीं दिया जा सका। 'वैरागी का भजन' के नाम से वह प्राप्त है, पर ऐतिहासिक सामग्री एवं सम्बन्धित स्थानों, व्यक्तियों और ग्रंथों आदि के सम्बन्ध में हम संदिग्ध थे! शीघ्रता से ग्रन्थ जुटाकर उद्धरण आदि का अवलोकन संभव नहीं था। अत: मैं विश्वास करूँ कि मुनि जी हमारी विवशता को ध्यान में रखेंगे।

मंत्री —
सोनाराम जैन

बस मुझे यही कहना था !

'मानवता के पथ पर' पुस्तक में मुनि श्री लाभचन्द्र जी ने जिन भावों का विवेचन किया है, वे वस्तुतः भौतिकवाद के सामने मानवता वादियों की ओर से एक मजबूत मोर्चा है। हिंसा और अहिंसा की, अनैतिकता और नैतिकता की, असत्य और सत्य की, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता की—लड़ाई में, मानवता, प्रकाश स्तम्भ बन कर खड़ी है।

इस सम्बन्ध में हमारा पूर्ण विश्वास है कि मानवता के सम्मुख हिंसा झूठ, बेइमानी और धोखेबाजी को हारना पड़ेगा, क्योंकि मानवता आत्मा की आवाज है। यह आत्मा का अमर संगीत है। लाखों वर्ष की क्रूर काल की चक्र-प्रणाली भी इसे समाप्त नहीं कर सकी। संसार में हजारों नर राक्षस आए, सम्पूर्ण पृथ्वी पर एकाधिकार करने के लिए—धरती को दलते-मलते चतुर्दिक में फिरते रहे। परन्तु मौत ने उन्हें भी उतनी तीव्रता से चबा डाला। उन्होंने सोचा था कि मानवता को समाप्त कर दें और मनुष्य को अपने संकेतों पर चलाकर मनमानी करें। किन्तु उनकी यह कल्पना कितनी झूठ एवं अहमन्यता से भरी हुई थी !

गढ़े मील की ओर दृष्टि दौड़ा कर चट यह निर्णय कर लेता है कि मैं इतना पथ पीछे छोड़ आया हूँ और इतना अभी शेष है। ठीक इसी प्रकार हम मानव होकर मानवता के पथ पर चलते हुए अब तक की जीवन यात्रा में कितना मार्ग नाप सके हैं, इस सत्य के दर्शन, प्रस्तुत पुस्तक के प्रत्येक प्रवचन, मील के पत्थर बन कर—कराएँगे।

पुस्तक के पाठकों से मुझे कहना है कि प्रवचनों के प्रारम्भ में एक प्रतीक चित्र एवं साथ ही एक दिशा संकेत या टिप्पणी मिलेगी। ज्ञान-पीठ के अधिकारियों ने मेरा सहयोग इस दिशा में चाहा। अतः इस सम्बन्ध में मुझे कहना है यदि पाठक पसन्द करेंगे तो और भी नये प्रयोग ज्ञान-पीठ के माध्यम से सामने आ सकते हैं—उत्कृष्ट मेकअप और शिल्प सम्पादन की दिशा में !

तो अब मै पाठकों से छुट्टी लूँ ! बस सम्पादक के नाते मुझे यही कहना था।

कुमार परिषद्,
लोहामंडी, आगरा
१—८—६० ई०

—कुमार सत्यदर्शी

मानवता के प्रकाश-स्तम्भ

'मानवता के पथ पर' पुस्तक की भूमिका स्वरूप, आदरणीय वयोवृद्ध साहित्य तपस्वी, डा० श्री हरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०, कविरत्न से प्राप्त अतीत और वर्तमान के अनुभवों का निचोड़ यह हम यहाँ साभार प्रस्तुत कर रहे हैं!

वर्तमान युग में 'मानवता' या 'मनुष्यता' का जितना ह्रास हुआ है, उतना और किसी का नहीं। आज नेता-प्रणेता, विद्वान-पण्डित, कवि-साहित्यकार, सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा, मन्त्री-मिनिस्टर, साधु-सन्त तो बहुत हैं, परन्तु वास्तविक 'मानव' या 'मनुष्य' के दर्शन बड़ी कठिनता से होते हैं। अब से बहुत पहले उर्दू के मशहूर शायर 'मीर' ने कहा था—

मीर साहब गर फ़रिश्ता हो तो हो-
आदमी होना मगर दुश्वार है।

यानी 'फ़रिश्ता' होना तो साधारण बात है, परन्तु आदमी (मानव) मुश्किल से ही कोई हो पाता है। संसार में स्वार्थान्धता की आँधी चल

रही है, आपाधापी की भयंकर अग्नि प्रज्वलित है। अनाचार, अन्याय एवं अत्याचार ने नाकों दम कर रखा है। एक व्यक्ति दूसरे को, एक समुदाय दूसरे समुदाय को और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दवाने या नष्ट करने की चिन्ता में है। भगवती मेदिनी प्रतिवर्ष इतना अन्न-वस्त्र प्रदान करती है, फिर भी अधिकाँश जनता दुःखित और व्याकुल, नग्न एवं बुभुक्षित होकर आर्तनाद करती तथा तड़फती दिखाई देती है। इसका एक मात्र कारण 'मानवता' की कमी है। जहाँ मानवता होती है, वहाँ पूर्ण शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता है और 'जिओ तथा जीने दो' की भद्र भावना काम करती है। विश्वबन्धुत्व, समता, स्नेह, सदाचार तथा सद्भावना का सुदृश्य दिखाई देता है। संसार सुख-शान्ति का आगार बन जाता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों, महा मानवों एवं साधु-सन्तों ने अपने आदर्श जीवनों के उदात्त उदाहरणों द्वारा इसी मानवता का संदेश दिया है। ऐसे महा मानवों के सदुपदेश ही विश्व का त्राण-कल्याण करते रहे हैं। भगवान् महावीर भी इन्हीं विश्व-विभूतियों में से थे। उन्होंने उस समय 'मानवता' का पुण्य प्रचार किया, जब मनुष्य पतन की पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। आज शासक गण या शासन-सत्ता नित नये विधान-निर्माण द्वारा या तरह-तरह की कानून-साज़ी के ज़रिए, अपराधों का निरोध या निराकरण कर 'मानवता' स्थापित करना चाहते हैं, फिर भी 'मानवता' कोसों दूर भाग रही है। कारण स्पष्ट है—क़ानून का शासन बाहरी शरीर तक सीमित है, उससे हृदय-परिवर्त्तन नहीं हो सकता। यही कारण है कि एक बार क़ानून द्वारा दण्डित होने पर भी अपराधी पुनः-पुनः अपराध करता है। और जो चलते-

आडम्बर या ढोंग का नाम मानवता नहीं है। मानवता कर्म में लाने की भावना है। किन्हीं महापुरुष ने अब से सैकड़ों वर्ष पहले मनुष्य की कैसी विमल व्याख्या की है—

विद्या विलास मनसो धृतशील शिक्षाः
सत्यव्रता रहित मान मलापहाराः !

संसार दुःख दलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः !

वस्तुतः जिसमें उपर्युक्त गुण-गण विद्यमान हैं, वही मानव है और ऐसी मानवता के अभाव वश ही विश्व दुःख और अशान्ति का केन्द्र बना हुआ है। धर्म, प्रचार का मुख्य उद्देश्य 'मानवता' का विकास या निर्माण करना है। धर्महीन मनुष्य बिना सींग-पूँछ का पशु माना गया है। सिद्धान्त-रक्षा के लिए जो छोडना पड़ता है, उसका नाम 'त्याग' और कष्ट सहना होता है, उसे 'तप' कहते हैं। बिना 'तप' या 'त्याग' के कभी कोई मानव नहीं बन सकता।

त्याग-तपस्या से पवित्र-परिपुष्ट हुआ जिसका तन है।
भद्र-भावना-भरा, स्नेह, संयुक्त शुद्ध जिसका मन है।
होता व्यय नित-परहित में जिसका शुचि संचित धन है,
वही व्यक्ति सच्चा मानव है, धन्य उसी का जीवन है।

अभिप्राय यह कि इस कथित उन्नति के युग में 'मानवता' मर रही है, प्राण त्याग रही है, उसे बचाने की आवश्यकता है। इतिहास साक्षी है कि जब-जब 'मानवता' का मर्दन हुआ है, तभी तब विश्व पर विपत्ति-वज्रपात हुआ है। मनुष्य जब पशु-रूप में परिणत हो जाता है, तभी युद्धों

मुनि लाभचन्द्र जी : एक परिचय रेखा

—सुबोध मुनि

आपका जन्म, सम्वत् १९८१, में, चित्ताखेड़ा (ग्वालियर) में हुआ। पिता का नाम श्री नाथुलाल जी एवं माता का प्यारी बाई। बचपन से ही आपका मन सांसारिक ऐषणाओं में नहीं रम सका। सम्वत् १९९१ के पूर्वार्द्ध में आप तत्कालीन प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य श्री खूबचन्द्र जी म० की सेवा में पहुँच गये। आचार्य जी की सेवा में जैन-धर्म का आचार शास्त्र पढ़ा! अध्ययन में मन रमा, संयम के सागर में निमज्जन करने को मन उत्कंठित हो गया ! तो मन की गहराई को आपने विचारों का फीता डाल कर नापा। और अपना निश्चय आचार्य जी को सुनाया। आचार्य जी ने अपने योग्यतम, स्नेहशील, विनम्र शिष्य श्री हजारीमल जी का आपको सम्वत् १९९२, चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन रामपुरा में शिष्य घोषित किया।

धीरे-धीरे श्रद्धेय गुरु जी के गुण आप में साकार हो रहे थे। किन्तु क्रूर काल ने गुरु जी को आपसे सम्वत् १९९६ के इन्द्रप्रस्थीय वर्षावास के पश्चात् पौष शुक्ला दशमी को रात्रि में छीन लिया। आपका विमल कोमल मन, दर्शन शास्त्र के इस पत्थर फोड़ कठोर सत्य को जानता था कि देह नश्वर है और एक दिन यह समाप्त होगा ही, फिर भी हृदय पसीजता

मुनि लाभचन्द्र जी : एक परिचय रेखा

—सुबोध मुनि

आपका जन्म, सम्वत् १९८१, में, चित्ताखेड़ा (ग्वालियर) में हुआ। पिता का नाम श्री नाथुलाल जी एवं माता का प्यारी बाई। बचपन से ही आपका मन सांसारिक ऐषणाओं में नहीं रम सका। सम्वत् १९९१ के पूर्वार्द्ध में आप तत्कालीन प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य श्री खूबचन्द्र जी म० की सेवा में पहुँच गये। आचार्य जी की सेवा में जैन-धर्म का आचार शास्त्र पढ़ा! अध्ययन में मन रमा, संयम के सागर में निमज्जन करने को मन उत्कंठित हो गया! तो मन की गहराई को आपने विचारों का फीता डाल कर नापा। और अपना निश्चय आचार्य जी को सुनाया। आचार्य जी ने अपने योग्यतम, स्नेहशील, विनम्र शिष्य श्री हजारीमल जी का आपको सम्वत् १९९२, चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन रामपुरा में शिष्य घोषित किया।

धीरे-धीरे श्रद्धेय गुरु जी के गुण आप में साकार हो रहे थे। किन्तु क्रूर काल ने गुरु जी को आपसे सम्वत् १९९६ के इन्द्रप्रस्थीय वर्षावास के पश्चात् पौष शुक्ला दशमी को रात्रि में छीन लिया। आपका विमल कोमल मन, दर्शन शास्त्र के इस पत्थर फोड़ कठोर सत्य को जानता था कि देह नश्वर है और एक दिन यह समाप्त होगा ही, फिर भी हृदय पसीजा

रहा ! मन रिसता रहा ! और आँखें ओस बिन्दुओं की तरह ढुलकती रहीं ! अन्त में आपने अपने मन को मोड़कर विद्यार्जन में जोड़ दिया। मन, चारों ओर से अध्ययन की परिक्रमा करने लगा। फलतः गुरु के योग्य शिष्य ने थोड़े ही वर्षों में हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति और इतिहास का गहरा व ठोस अध्ययन किया।

अब तक आपने वीर-भूमि मालव, मरुधरा राजस्थान, गुजरात, काठियावाड़, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, आंध्र, नेपाल आदि विभिन्न प्रदेशों में पद-यात्रा करते हुए मानवता मूलक धर्मोपदेश देकर जन-जन को जागृत किया। व्यक्ति की समस्याओं का आप धर्म से सामंजस्य स्थापित कर समाधान करते हैं। आपकी यह दृढ़ धारणा है कि धर्म मानवता मूलक है। इसके बिना धर्म की कल्पना कल्पनातीत है। धर्म, केवल पहाड़ की चोटियों पर खड़े होकर सुनाने भर के लिए ही नहीं है।

इधर कुछ वर्षों से आपने नेपाल, आन्ध्र आदि प्रदेशों में भ्रमण करते हुए "अहिंसा सम्मेलन" व "सांस्कृतिक सम्मेलन सप्ताह" आदि के सर्व-धर्म सद्भाव एवं सर्व-धर्म समभाव की जागृति के उल्लेखनीय आयोजन किये और करवाये हैं।

आपकी नेपाल तथा आन्ध्र की यात्रा, प्रत्येक दृष्टि से सफल व महत्त्वपूर्ण रही! इन क्षेत्रों में स्थित सराक जाति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर आपने इन लोगों को सराक का विशुद्ध शब्द जैनों के 'श्रावक' शब्द से जोड़ कर बताया। और कहा कि कुछ वर्ष

के कठमुल्ला लोग एक समय, बड़े पैमाने पर बौद्ध एवं जैनों के विरोध में संगठित हुए थे। राज-शासन में उनका दखल था, उन्होंने अधिकारों का गलत उपयोग किया। फलतः दोनों धर्म के अनुयायी पर्याप्त संख्या में इधर-उधर चले गये। आप लोगो में पीढ़ियों से सात्विक धर्म भाव की प्रतिष्ठा है। फल स्वरूप अभक्ष पदार्थों का सेवन, जैन-धर्म के संस्कार वश आप लोगों में प्रवेश न पा सका।

अस्तु, मानवता के अमर संगीत का यह अमर गायक, आज अपने आप में एक संस्था बन गया है। इसकी सेवा में कुछ समय बैठना ही मानो सुन्दर संस्कारों की दीक्षा प्राप्त करना है। जो एक बारगी इसके पास चला जाता है, वह हमेशा के लिए ही इसका हो जाता है। हृदय को जीत लेने की इस सहृदय सन्त में अद्भुत शक्ति है। भारत के जिस कौने में यह चला गया, सर्वत्र जनता से आदर, श्रद्धा और प्रेम के मधुर उपहार ही प्राप्त करता रहा, कर रहा है और करता रहेगा!

अस्तु, इस प्रकार यह इस महा सन्त की एक सीधी-सादी परिचय रेखा मात्र है। शेष जीवन-परिचय, एक पूरी पुस्तक का विषय है। सन् १९६० का वर्षावास आप मद्रास में बिता रहे है।

"जैन साहित्य मन्दिर कड़क्का चौक अजमेर"
द्वारा प्रेषित सामग्री के आधार पर!

मील के ये पत्थर !

इन सब प्रश्नों ने हमारे प्राचीन मनीषियों के मनों को बहुत बरसों पहले ही आन्दोलित किया है। पर आज की पाश्चात्य-अनुकरण की बाढ़ में विद्या का मूल अभिप्राय ही मानों खोता जा रहा है।

आज हमारे देश में जो शिक्षा बहुधा प्रचलित है, वह हमारे प्राचीन आदर्शों के ठीक विपरीत पड़ती है। वस्तुतः विद्या तो वही है, जो मानव को सभी प्रकार की असत् प्रवृत्तियों से मुक्त करती है। हमारे पूज्य आचार्यों का कथन है—"पढमं नाणं" अर्थात्—पहले ज्ञान का अर्जन करना आवश्यक है। ज्ञान ही मानव के लिए एक दिव्य या अति-प्राकृत नेत्र के समान है। ज्ञान-चक्षुओं द्वारा ही अनन्त सुख का राजमार्ग देखा जा सकता है। कहने को आज ज्ञान की कोई कमी नहीं है, पर उसे क्या सच्चे अर्थों में ज्ञान कहा जा सकता है? वास्तव में सत् ज्ञान ही मानव जीवन का सच्चा विकास करने में समर्थ है, क्योंकि वह उसे आत्म-विकास और आत्म-उद्धार की राह दिखाता है।

सत् ज्ञान ही मानव-जीवन की मूलभूत पूंजी है। इसके अभाव में मानव स्वयं ही अपने को भूल जाता है। वह भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति के लिए, पागलों के समान दौड़ लगाने लगता है। आज भौतिक विज्ञान की मदिरा में पाश्चात्य जन मतवाले हो रहे हैं, किन्तु वे इतनी-सी सरल बात को भी समझने में समर्थ नहीं हैं कि यह सब अन्धी विहाण की दौड़-धूप, उन्हें सुख-शांति की ओर नहीं ले जा रही है। उससे उनकी अब भी अभिलाषाएँ पूरी नहीं होंगी। इसके विपरीत, वे दिन प्रति दिन उग्र और तीव्र होती जायँगी। अन्त में वे परिणाम में विनाश और संहार का कारण ही सिद्ध होंगी। वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान

के साथ ही साथ, आत्मिक ज्ञान भी परमावश्यक है। ये दोनों ज्ञान के विभिन्न अंग ही वास्तव में जीवन रूपी निरन्तर प्रवहमान नद के आमने-सामने के तटों के समान हैं।

आज के नवयुवक, आत्मिक ज्ञान को व्यर्थ समझ कर छोड़ते जाते हैं और वे केवल उदर भरने वाली व्यावहारिक विद्या को ही हृदयङ्गम करने की धुन में डूबे जाते हैं। भारत में प्राचीन काल में ही, लोग अपनी आत्मा के कल्याण करने वाली और देश और समाज का हित करने वाली सच्ची विद्या की साधना में लीन रहते थे। उनका विद्योपार्जन का उद्देश्य, आजीविका और उदर-पोषण जैसे अत्यंत साधारण कर्म नहीं था। महावीर, बुद्ध और राम जैसे महान् आत्माओं ने राज घरानों एवं साम्राज्यों के बीच जन्म लेने पर भी अपने बाल्यकाल से ही सच्ची विद्या एवं सद् ज्ञान की साधना की ओर ही अपनी प्रवृत्ति दिखाई थी। राज-पाट और भोग-विलास के प्रति उनके मनों में रंचमात्र भी मोह नहीं पाया जाता था। उन्होंने त्यागी, तपस्वी और सन्त पुरुषों के चरणों में बैठकर ही ज्ञान-साधना की थी। तभी तो वे आगे चल कर अपने समाज, राष्ट्र एवं मानव-जाति के परम हितकारी और पथ प्रदर्शक बन पाये। आज के प्रगति पथ पर बढ़ने वाले भारत के भावी नागरिकों का ध्यान, ज्ञान और विद्या के इस मौलिक अभिप्राय की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है। लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने पर कभी भी अभीष्ट मंजिल पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। आज सभी सेवा और त्याग का नारा लगा रहे हैं, किन्तु जिन सद्-ज्ञान एवं सद्-विद्या की प्रेरणा, सेवा और त्याग के मूल आधार हैं, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा है। इसीलिए आज हमारे समाज में नैतिकता, मानों अलाप हो रही है और

लोग दिनों-दिन स्वार्थ-परता और आपाधापी की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। सच तो यह है कि—

> "*विद्या ददाति विनयम्,*
> *विनयात् याति पात्रताम्।*
> *पात्रत्वात् धन' माप्नोति,*
> *धनाद्धर्मं, ततः सुखम् ॥"*

अर्थात्—विद्या से ही विनम्रता आती है। विनम्रता के कारण ही लोग सत्पात्र या आदरणीय बनते हैं। पात्रता पा लेने पर ही धनोपार्जन आदि सांसारिक कार्यों में सफलता मिल पाती है। धन आदि साधनों द्वारा ही धर्म की उपलब्धि की ओर चला जा सकता है, और वास्तव में सुख की प्राप्ति धर्म-साधना द्वारा ही संभव है।

किन्तु आज की विद्या से हमारे युवकों में विनम्रता नहीं आती। वे तो इसके विपरीत उच्छृङ्खलता की ओर ही दिनों-दिन अग्रसर हो रहे हैं। उनका यह व्यवहार समाज एवं देश के लिए भयंकर खतरा है। इससे तो यह प्रगट है कि विद्या के स्थान में भारतीय युवा वर्ग अविद्या को अपनाते जाते है। ज्ञान के स्थान में अज्ञान की ही वृद्धि हो रही है। इसका मूलभूत कारण है—पश्चिम की शिक्षा प्रणाली एवं ज्ञान-साधन प्रणाली का अन्धानुकरण। इससे रावण के समान तीव्र गति से उन्नति एवं समृद्धि को तो पाया जा सकता; है किन्तु इसका परिणाम तद्रूप महा विनाशकारी ही बन सकता है।

सभी जानते हैं कि रावण विद्वान था और ज्ञान भी उसने पर्याप्त पाया था। फिर भी सत्-विद्या और सत्-ज्ञान के अभाव में वह अविवेकी बन गया। उसने अपने दुराग्रह के कारण, सोने

की लंका को जलवा कर खाक कर डाला। आज वह अपने देश के संहारकों में गिना जाता है—उद्धारकों में नहीं। इसीलिए विद्या का केवल पुस्तकीय ज्ञान कल्याणकारी नहीं हो सकता। उसका प्रभाव हमारे नित्य प्रति के आचरण में उतर आना जरूरी है। इसीलिये विद्या का अर्जन जितना जरूरी है, उतना ही उसका सदुपयोग, जीवन में किया जाना भी आवश्यक है।

'आचारः प्रथमः धर्मः'—अर्थात् आचरण ही धर्म की पहली सार्थकता है। आचरण की शुद्धता ही धर्म की उपलब्धि का पहला सोपान है। विद्या के अर्जन में जितनी जिज्ञासा और मनोयोग चाहिए, उतना ही पाये हुए ज्ञान के द्वारा आचरण में शुद्धता और उत्तमता लाना भी आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे शरीर के भरण-पोषण के लिए अन्न और जल; दोनों ही आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार आदर्श और उन्नत जीवन बिताने के लिए ज्ञान और क्रिया (आचरण); दोनों ही की जरूरत है। "ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः" ऐसा मनीषियों का मत है; अर्थात् ज्ञान और क्रिया; दोनों का एकीकरण ही मुक्ति का पथ है। जिस प्रकार वृक्ष के पोषण के लिए शुद्ध जल एवं वायु की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन के विकास के लिए ज्ञान की उपलब्धि और तदनुकूल क्रिया की भी परम आवश्यकता होती है। शुद्ध आचरण का अभिप्राय यह है कि प्रातः से सायं तक जो भी क्रियाएँ की जायें, उनसे किसी को हानि न पहुँचे और किसी का अनिष्ट न हो। जो ऐसा जीवन बिताता है, वही सदाचारी कहलाता है। इसके विपरीत आचरण ही दुराचार है, उससे दूर रहने में ही श्रेय है।

भगवान महावीर ने पावापुरी की अन्तिम धर्म देशना में कहा था—

"अह पंचहिं ठाणेहिं, जहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणलस्सएण य ॥"

—उत्तरा० ११–३

"मान, क्रोध प्रमाद रोग और आलस्य के कारण मानव धर्मानुकूल जीवन यापन करने की दिशा में शिक्षा शील नहीं हो पाता।"

मान का भाव विनय का नाश करने वाला होता है। मानी व्यक्ति स्तम्भ के समान अकड़ा हुआ रहता है। आज के युवकों में अभिमान की मात्रा बढ़ती जा रही है। थोड़ा-सा ज्ञान या शिक्षा पा लेने पर ही लोग मदमत्त हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार से अपने में अभिमान की मात्रा न बढ़ने देकर युवकों को विनम्रता का मार्ग ग्रहण करना उचित है; क्योंकि विद्या से तो सबसे पहले विनय का गुण आना चाहिए। हमें अपने नित्य प्रति के जीवन में भी, नीचे धरती पर रखे पदार्थों को उठाने के लिये अनन्त बार झुकना पड़ता है। जमा हुआ घी निकालने के लिए अंगुली को झुकाना ही पड़ता है, क्योंकि कहावत प्रसिद्ध ही है कि 'सीधी अंगुली से घी नहीं निकाला जा सकता!' नम्र व्यवहार से ही हम अपने सामने वाले व्यक्ति का मन अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। रूठे हुए को विनय द्वारा ही मनाया जा सकता है। यही नहीं—विनय-गुण शत्रु को भी मित्र बनाने वाला महामंत्र है और अभिमान मित्र को भी शत्रु बनाने वाला शस्त्र है। समाज और देश की सेवा केवल विनयी युवक ही कर सकते हैं। जो व्यक्ति अपने को ही बड़ा समझता है, वह कभी-कभी रावण की भांति सारे समाज और देश को भी अपने साथ ले डूबता है।

क्रोध, सभी प्रकार की साधना का महान् शत्रु है। सत्य साधक के मार्ग में, पद-पद पर काँटे बिछाता चलता है। क्रोध का पहला लक्षण है—दिमाग को गरम कर डालना और धैर्य को भी डालना। इससे ज्ञान तंतुओं में क्षोभ पैदा होता है, जिससे सत्य या असत्य का विवेक नष्ट हो जाता है। सारा तन और मन, क्रोध की अग्नि से जलने लग जाता है। इसके प्रभाव से मानव की आकृति भयानक हो जाती है। वह आँखों से न देखता हुआ केवल दुर्वचनों को मुँह से अनजाने ही निकालने लगता है। ऐसे व्यवहार से मनुष्य अपने प्राणों को भी संकट में डालता ही है, साथ ही उसके आवेग में वह अपने आस-पास के समाज एवं जन-समूह का जीवन भी अशान्त और हिंसामय करने में सहायक बनता है। छोटे-छोटे आपसी झगड़ों से लेकर, यही क्रोध बड़े-से बड़े विश्व युद्धों के मूल में क्रियाशील रहता है। इसी कारण क्रोध रूपी शत्रु से सदा ही सावधान रहना जरूरी है।

प्रमाद मनुष्य की महा हानि करने वाला एक दूसरा प्रबल शत्रु है। प्रमाद के कारण ही व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाओं को खो देता है और उसके जीवन का विकास और प्रगति रुक जाते हैं। आलसी प्रकृति वाले व्यक्ति का दिमाग भी आलसी हो जाता है। भगवान् महावीर के शब्दों में—"प्रमाद ही मृत्यु है।" युवकों को प्रमाद या आलस्य से दूर अति दूर रहना चाहिए। प्रमादी व्यक्ति के लिए, विचार और ज्ञान की प्राप्ति, कैसे संभव हो सकती है?

रोगी शरीर वाला व्यक्ति अपने विचारों में और कार्यों में संकीर्ण बनता जाता है। उसकी दृष्टि एकांगी हो जाती है। वह

केवल अपने दुःख को दुःख मानता है, और समाज और देश में फैले हुए कष्ट और दुःख के प्रति वह उदासीन और निष्ठुर हो जाता है। अतः युवकों का कर्त्तव्य है कि वे शरीर को रोगी और निर्बल होने से सदा सावधान रहें।

पांचवीं भयानक बाधा, जो मानव-चरित्र के निर्माण में, समाज और देश के कल्याण मे बाधा पहुँचाती है—वह है आलस्य। आलस्य और प्रमाद में अन्तर समझ लेना भी जरूरी है। आलस्य के निवारण के लिए शारीरिक श्रम आवश्यक होता है। शरीर-श्रम से रक्त की गति सुव्यवस्थित एवं तीव्र होती है तथा श्वास-प्रश्वास का काम इस प्रकार का बन पाता है, जिससे कि फेफड़ों को उचित व्यायाम मिलता रहता है। उससे शरीर की शुद्धि तो होती ही है, मन का कल्मष भी दूर हो जाता है। शरीर से मेहनत कर चुकने के बाद मन प्रसन्न हो जाता है। आलस्य से शरीर की क्रिया-शक्ति नष्ट होती है और उसमें रोगों को स्थान मिलने की सुविधा मिल जाती है। किसी तत्त्व वेत्ता ने इसीलिए सच ही कहा है :

"तुम अपने दिमाग को ठंडा रखो और हाथ-पैरों को गरम रखो! किसी न किसी स्वस्थ परिश्रम में लगे रहो!"

उपर्युक्त चरित्र-निर्माण के पांच प्रकार की सावधानी बरतने से और इन पांच दुर्गुणों को दूर रख कर, इसके विपरीत सद्-गुणों का विकास करने से ही युवक अपनी उन्नति और प्रगति में सफल होंगे। यही नहीं, वे अपने समाज और देश की सेवा करने में भी समर्थ होंगे।

दिनांक : १-५-५७ ;

स्थान : बमन गामा (उत्तरी बिहार का सीमान्त प्रदेश)

दो :

श्रेय और प्रेय

आज मानव चुनौती के उस दुराहे पर खड़ा है, जहाँ उसे निर्णय करना है कि वह भौतिकता के सरपट चिकने रास्ते पर चले या अध्यात्म के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर जीवन दीप प्रज्वलित करे ? एक विनाश का मार्ग है, तो दूसरा विकास का ! मार्ग निर्णय की इस गुत्थी को धार्मिक दृष्टि से मुनिश्री ने सुलझाया है। संभव है उनका चिन्तन आपके काम आ सके ? —सं०

महा पुरुषों ने संसार को बाजार की संज्ञा दी है। उनका कथन है, यह संसार एक बाजार है, जिसमें अच्छी-बुरी सभी प्रकार की वस्तुएँ हर समय बिक्री के लिये तैयार रहती हैं। अब यह खरीदने वाले व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह अपने लिये

अच्छी चीज खरीदता है या बुरी। वह श्रेय का इच्छुक है या प्रेय का! उसे वास्तविक हीरा चाहिए या हीरे की नकल! और उनके इस कथन का अर्थ है कि खरीदने वाले व्यक्ति में ऐसी बुद्धि भी होनी चाहिये कि वह असली और नकली हीरे की परख कर सके। कहने का तात्पर्य यह है कि खरीदने से पहले वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है—अन्यथा असली वस्तु के स्थान पर नकली वस्तु भी खरीदी जा सकती है। और इस प्रकार अगर खरे के स्थान पर खोटा सौदा पल्ले पड़ गया तो उसका फल भी खोटा ही मिलेगा। और तब खरीदने वाले व्यक्ति का जीवन ही धिक्कार के योग्य बन जायेगा!

इस संसार रूपी हाट में जितनी भी भौतिक वस्तुएं उपलब्ध हैं; जैसे—धन, महल, अटारी आदि—ये सब प्रेय वस्तुएं हैं। इन वस्तुओं को खरीद लेने से खरीदने वाले व्यक्ति की हानि होती है। उसका पतन होता है। सत्य, ब्रह्मचर्य, शान्ति, क्षमा आदि ये श्रेय पदार्थ हैं। इन वस्तुओं को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कल्याण होता है। उसकी आत्मा में सर्वदा आनन्द विराजता है। वास्तव में, आनन्द ही आत्मा का धन है, जिसकी खोज में आत्मा सतत् प्रयत्नशील है और बार-बार जन्म ग्रहण कर इस संसार में अवतीर्ण होती है।

आप जानते हैं, कोई भी व्यक्ति जब व्यापार करने की इच्छा करता है तो व्यापार करने से पूर्व इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहता है कि जिस वस्तु का मैं व्यापार करने जा रहा हूँ, उससे मुझे हानि होगी या लाभ। मैं कुछ नफा कमा सकूँगा या मूल भी गंवा बैठूँगा। जब एक जन्म के कुछ दिनों के मामूली से व्यापार के लिए इतना सोच-विचार करना पड़ता है तो निर्वाण

पद को प्राप्त करने के लिए कितने अधिक सोच-विचार की आवश्यकता है। मेरे इस कथन से यह बात आप लोगों की समझ में भली प्रकार से आ गई होगी। अब आप लोगों के सम्मुख उन पाँच कसौटियों का भी वर्णन कर दूँ, जो इस व्यापार के करने में आपकी अपार सहायता कर सकती हैं।

श्रेय पदार्थों को प्राप्त करने में मनुष्य स्वाधीन है, मगर प्रेय पदार्थों की प्राप्ति किसी भी मनुष्य को तभी होगी, जब उसके शुभ-कर्म उदय होंगे—अर्थात् प्रेय पदार्थों को प्राप्त करने में मनुष्य पराधीन है। आप अगर इच्छा करते हैं कि आपके पास एक मोटर हो तो मोटर आपको तभी प्राप्त होगी, जब आपका कोई शुभ-कर्म फलेगा। मगर इसके विपरीत अगर आप यह चाहते हैं कि आप ब्रह्मचर्य का पालन करें तो आप बड़ी सुगमता से इसे प्रारम्भ कर सकते हैं। आपको इस शुभ कार्य को प्रारम्भ करने के हेतु शुभ-कर्मों का इन्तजार नहीं करना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रेय पदार्थों को प्राप्त करने में आप पराधीन नहीं हैं, बल्कि पूर्ण रूपेण स्वाधीन हैं। इसके विपरीत प्रेय पदार्थों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ है। वह पराधीन है।

श्रेय पदार्थों से मिलने वाला सुख चिरस्थायी होता है, जबकि प्रेय पदार्थों से प्राप्त होने वाला आनन्द विनाश की नींव पर खड़ा है। आज आप एक मकान बनवाते हैं, अल्पसमय के अन्दर ही ढहकर वह भूमिसात् हो जाता है। क्यों? क्योंकि, वह सत्य की आधार-शिला पर निर्मित नहीं किया गया। वास्तव में, कोई भी प्रेय पदार्थ चिरस्थायी नहीं होता—इसीलिये उससे मिलने वाला सुख भी चिरस्थायी नहीं हो पाता। किन्तु सत्य,

अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का जो सुख है, वह अजर है, वह अमर है। और वह कभी भी नष्ट नहीं होगा।

प्रेय पदार्थों को प्राप्त करने में विषमता का निवास है, जबकि श्रेय पदार्थों के बीच अपार शान्ति विराजती है। कोई व्यक्ति धन, वस्त्र आदि का संचय करता है, तो वह दूसरों को गरीब और वस्त्र-विहीन कर देता है। किसी एक पाश्चात्य तत्त्व-वेत्ता का कथन है—"संसार में इतने ही पदार्थ हैं, जितने कि प्राणी ! यदि प्रत्येक प्राणी अपने हक की वस्तु का ही उपभोग करता है, तब तो सब ठीक है, लेकिन अगर कोई मनुष्य संचय की प्रवृत्ति से कार्य करता है तो इस प्रकार वह दूसरों का हक छीनता है।" और हमारे विचार में वह पाप का भागी बनता है। दूसरों के मनों में अपने प्रति क्रोध और ईर्ष्या जगा देता है तो फिर, अन्य वे सोचते है, हमको तो खाने और पहनने तक के लिये मयस्सर नहीं है और यह ठाठ के साथ बंगले में रहता है, खूब खाता है, बढ़िया से बढ़िया पहिनता है। यही प्रेय पदार्थों की विषमता है। इस तरह अभाव की आग में, फंसकर आज सारा संसार जल ही तो रहा है। मगर श्रेय पदार्थों के बीच ऐसी कोई विषमता नहीं है। श्रेय पदार्थों के संचय करने वाले के प्रति सभी की सद्भावना जागती है। साधु पुरुषों को देखकर सभी के मनों में पवित्रता और आनन्द का स्रोत उमड़ने लगता है। सभी उनके प्रति नत-मस्तक हो जाते हैं। वास्तव में, श्रेय पदार्थों का भण्डार अक्षय है।

प्रेय पदार्थों के बीच बाधा भी अपना रूप सँवारे बैठी है। एक व्यक्ति धन अर्जन करने की चेष्टा में निमग्न होता है, मगर दूसरे उसमें दखल देते हैं। उसके उस कार्य में बाधा पहुँचाने

का प्रयत्न करते हैं। और अगर इन विघ्न-बाधाओं का सामना कर वह व्यक्ति किसी प्रकार कुछ धन कमा भी लेता है तो उस व्यक्ति उसके उस धन पर अपना हक बतलाने लगते हैं। पुत्र कहता है, यह मेरा है। भाई कहता है, यह मेरा है। कहने का तात्पर्य है कि उसके उस धन पर अनेक अपना अधिकार घोषित करने लगते हैं। किन्तु जो श्रेय है, शुद्ध पदार्थ है—उसको कमाने वाले के कार्य में कोई भी विघ्न नहीं डालता, कोई हकदार नहीं बनता।

और अन्तिम तथा पाँचवाँ हेतु बंधन है। आज यदि आप इच्छा करें कि संसार की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण कर दें तो आपके मार्ग में स्त्री, बच्चे, कुटुम्बी आदि सभी स्नेही जन अड़कर खड़े हो जायेंगे और आपको एक कदम भी उस मार्ग पर आगे नहीं बढ़ने देंगे—क्योंकि उन सभी का स्वार्थ आप में निहित है। इस प्रकार आप उनसे बँधे हुए हैं। मगर आत्मा निर्बन्ध है। वह किसी से भी नहीं बँधी हुई है। वास्तव में, प्रेय पदार्थ इस शरीर, इस काया को सुख पहुँचाने वाले हैं और श्रेय पदार्थ अजर-अमर इस आत्मा को! इसीलिये आत्मा के समान श्रेय पदार्थ भी निर्बन्ध हैं।

गीता में कहा है—'जहाँ प्रेय पदार्थों का उपभोग हो रहा है, वहाँ अविद्या और अंधकार व्याप्त है। मगर जहाँ पर श्रेय पदार्थों की मान्यता में विश्वास है, वहाँ पर विद्या और प्रकाश का स्थायी निवास है।' हाँ, तो इस संसार रूपी हाट में सौदा करते समय यह भली प्रकार सोच लेना है कि हम श्रेय पदार्थ खरीदें या प्रेय पदार्थ।

मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है। वह इस बात का निर्णय

भली प्रकार कर सकता है। इसीलिये मनुष्य योनि को सब योनियों में श्रेष्ठ माना गया है। अगर आपने अभी तक इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं किया है, तो अब कर डालिए। जब आप इस संसार रूपी हाट में सौदा करने के लिये आये हैं तो उस अंधे व्यक्ति के समान क्यों आचरण करते हैं, जो सर्प को रस्सी और रस्सी को सर्प समझ लेता है। आप विश्वास कीजिये, प्रेय पदार्थों में स्थायी सुख-शान्ति नहीं है, वह तो श्रेय पदार्थों के बीच ही विचरती है। आप भी इसे प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् महावीर के इस कथन पर ध्यान दीजिये— "प्रेय पदार्थ मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देते हैं, और श्रेय पदार्थ उसके जीवन का विकास करते हैं।"

अस्तु, श्रेय पदार्थों को प्राप्त कर आप विकास के पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न कीजिये, विनाश की ओर क्यों दौड़ लगाते हैं। मुझे तो आज आप से केवल इतना ही कहना है कि ये दो मार्ग हैं—श्रेय और प्रेय। अब आपको चुनाव करना है, आप किस में अपना हित देखते हैं।

दिनांक : १७-८-५६

स्थान : बेंगलोर

समझता है। कहते हैं, जहाँ इस गुणवती नारी-जाति का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। कोई भी धार्मिक क्रिया नारी के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। इतिहास साक्षी है, राष्ट्र और समाज के सम्मान की रक्षा के लिये नारी-जाति ने क्या कुछ नहीं किया है? धर्म की रक्षा करने में उसने अपने प्राणों की आहुति दे दी है। सीता, द्रौपदी, चन्दन बाला आदि अनेक देवियाँ इसीलिये इस संसार में अमर हैं। पंचभूतों से बना हुआ उनका शरीर मर गया; मगर उनके यश का शरीर आज भी हमारे बीच विद्यमान है और सर्वदा रहेगा। संसार स्वर्थी है। वह उस व्यक्ति को याद नहीं करता, जो उसके बीच से चला जाता है, वह तो उसके कार्यों को याद करता है। उसके उन कार्यों को, जो उसके लिये लाभदायक सिद्ध हुए हैं। यह है, संसार का दस्तूर! और संसार के इस दस्तूर को नारी बड़े ही सहज भाव से निभा सकती है - क्योंकि वह नैसर्गिक रूप से ही गुणों से भरपूर है। स्वाभावतः ही वह गुणवती है।

मगर आज की नारी अपने इस स्वभाव को ही भूल गई है। आप कहेंगे कि कहीं स्वभाव भी भूला जाता है! तो, आपके इस विस्मय के निवारण के हेतु मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि अज्ञान के अंधकार में फंसा हुआ जीवन क्या कुछ नहीं करता है—अर्थात्, सब कुछ करता है और आज नारी अज्ञान के अंधकार में डूब कर अपना स्वभाव ही भूल गई है। वह धर्म के मार्ग को छोड़कर अधर्म के मार्ग पर चल पड़ी है। संयम की महत्ता को उसने भुला दिया है। इसीलिये आज का पुरुष कामुक हो गया है और वह उसकी काम-वासना को तृप्त करने वाली सामग्री बनकर रह गई है। गृह-लक्ष्मी बनने से आज उसे नफरत हो गई है—क्योंकि परिश्रम करना आज उसे पसन्द नहीं है। आज

तो उसे फैशन की दौड़ लगाने में मजा आता है. घर का काम कौन करे ! इसीलिये तो आज नगरों के बाजार उनके फैशन की वस्तुओं से अटे पड़े हैं। आज की वधू डाक्टर को अपने साथ लाती है। क्योंकि आजकल आपकी दृष्टि में अवस्था प्राप्त कर लेना ही विवाह की सबसे बड़ी योग्यता समझली गई है. इसलिये विवाह तो प्रत्येक कन्या का हो ही जाता है और इस तरह वह प्रिया, जननी और मा भी बन ही जाती है. मगर प्रिया, जननी और मा के गुणों का उसमें पूर्णतः अभाव ही रहता है।

अपनी रक्षा स्वयं कीजिए : समाज ने नारी के सतीत्व को बहुत बड़ा महत्व दिया है। मगर नारी अपने सतीत्व की रक्षा दूसरे के सहारे खड़ी होकर नहीं कर सकती। यहाँ तक देखने-सुनने में आया है कि पिता, जो अपनी कन्या का सब से बड़ा रक्षक है, किसी भी समय उसका भक्षक बन सकता है। जब इस संसार में इतनी भयंकर विडम्बना व्याप्त है, तब स्वयं-समर्थ बनने से ही काम चल सकता है। रावण की लंका में सीता ने अपने सतीत्व की रक्षा स्वयं ही की थी। राम अथवा महाराज जनक ने नहीं। तो, स्वयं समर्थ बनने से ही काम चलेगा, किसी के सहारे जीवित रहने से नहीं।

विद्वानों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि गुणवान् व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है। और मनुष्य में गुण तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब वह सुशिक्षित हो। आज नारी-समाज की दशा इसीलिये विशेष रूप से शोचनीय है, क्योंकि उसका अधिकांश भाग अशिक्षित है। वास्तव में, आज की नारी यह भी नहीं जानती कि उसे जीवन-यापन किस प्रकार करना चाहिए। इसीलिये वह स्वयं को बहुत ही निर्बल और असहाय अनुभव करती है। ऐसा

कोई भी व्यक्ति जो स्वयं को निर्बल और असहाय अनुभव करता हो, वह जीवन में कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। वह तो सर्वदा दूसरों का मुखापेक्षी ही बना रहेगा। आज की नारी की भी यही दशा है। भरण-पोषण एवं रक्षण के विषय में वह प्रत्येक क्षण पुरुष का ही मुँह देखा करती है और अपने जीवन की इसी में इति-श्री समझती है कि वह बच्चों को जन्म दे-दे और गलत-सलत ढंग से उनका पालन-पोषण कर दे।

हाँ, तो आज की नारी अगर अपनी पूर्व उन्नत दशा को फिर प्राप्त करना चाहती है तो उसके लिये आवश्यक है कि वह शिक्षा प्राप्त करे और स्वयं को निर्बल समझना बन्द कर दे। अपने मन में इस बात को दृढ़ता के साथ बिठा ले कि वह भी पुरुष के समान उन सभी अच्छे कार्यों को कर सकती है, जिनके पीछे से उन्नति का सूर्य झाँक रहा है। पुरुष भयंकर रूप से स्वार्थी है। वह नहीं चाहता कि कोई उससे आगे निकल जाये। इसीलिये उसने नारी-जाति को अंधकार के गहन गर्त में गिरा दिया है, जहाँ वह बेकस और बेबस तड़प रही है और सोचने लगी है कि पुरुष ही उसकी जीवन-नौका को पार लगा सकता है। मगर उसका यह सोचना भ्रम है। उसे अपने इस भ्रम का निवारण कर भरण, पोषण और रक्षण के सम्बन्ध में स्वयं-समर्थ बनना चाहिए ; तभी उसकी उन्नति सम्भव है।

यहाँ पर मैं पुरुष-वर्ग से भी एक बात कहना चाहता हूँ कि वह समय-रहते नारी के सम्बन्ध में अपने इस पैशाचिक दृष्टिकोण को बदल दे। किसी भी समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति पूर्ण रूपेण तभी हो सकती है, जब उस समाज, देश और राष्ट्र का नारी समाज शिक्षित, निर्भय और उन्नतिशील हो। नारी को

लोगों को उथल-पुथल में बहकाये रखने का अब समय नहीं रहा। अब समय आ गया है कि समाज का यह विभिन्न अंग अपनी विभिन्नता को त्याग कर आगे आने वाले समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हो। हजारों वर्षों से पुरुष की गुलामी करते-करते नारी अपने स्वभाव को ही भूल गई है। वह विदुषी और गुणवती बनने के स्थान पर मूर्ख और डरपोक हो गई है, जिससे मानव समाज का घोर पतन हो रहा है और वह समय अब अधिक दूर नहीं है, जब मानव-समाज अपना सब कुछ खोकर पशुओं की श्रेणी में सम्मिलित हो जायेगा। नारी, नर की शक्ति है—तो अपनी इस शक्ति को आप निकम्मी और कमजोर क्यों बनाना चाहते हैं? अब इसे अपनी गुलामी से छुट्टी दीजिये और स्वाधीनता के साथ इसे समाज, देश और राष्ट्र के निर्माण-कार्य में लगने दीजिये। शिक्षा प्राप्त करने के लिये स्वतंत्रता का होना परम आवश्यक है; क्योंकि गुलामी में गुणों का अभाव रहता है।

नारी आपके घर की शोभा है। मगर वह आपके घर की शोभा तभी बन सकती है, जब वह व्यवहार-कुशल और नीतियुक्त गृह-संचालन में दक्ष हो। आज की नारी में इन दोनों ही गुणों का पूर्ण अभाव दिखलाई देता है। यही कारण है, जो आज वह इतनी अधिक अव्यवहारिक हो गई है कि वह जानती ही नहीं कि व्यवहार किसे कहते हैं। अक्सर लोग कहते सुने जाते हैं, बहू ने तो हमारा लड़का ही हमसे छीन लिया। एक मित्र अपने मित्र की पत्नि के सम्बन्ध में शिकायत करता हुआ कहता है भइया, ...की पत्नि से तो भगवान् बचावे। उनकी बातों के कारण मुझे तो उनके घर जाने में डर लगता है....।

इस प्रकार, इस तरह के अनेक कथन आपके सम्मुख उपस्थित

किये जा सकते हैं—और इन सब का एक ही अर्थ है कि आज की नारियाँ व्यवहार-कुशल नहीं हैं। लगभग प्रत्येक गृहस्थ में आने-जाने वाले आते-जाते ही रहते हैं। कभी रिश्तेदार, तो कभी मिलने-जुलने वाले। वास्तव में, इन सब के स्वागत्-सत्कार का भार अधिकांश में गृहिणी पर ही पड़ता है। अगर गृहिणी व्यवहार-हीन है तो शीघ्र ही लोग उसकी व्यवहार-हीनता को समझ जायेंगे और आने-जाने में सकुचाने लगेंगे, जिससे समाज में विषमता उत्पन्न होगी और घर का वातावरण दूषित हो जायेगा। उस घर की सन्तान पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। बच्चे बा-अदब न रहकर बे-अदब हो जायँगे। सहृदयता, विनम्रता, सज्जनता आदि गुणों का उनमें पूर्ण अभाव हो जायेगा। इन गुणों के अभाव में आगे चलकर उनमें और भी अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी, जिससे उनका सामाजिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अतः इस बात की परम आवश्यकता है कि गृहिणी व्यवहार-कुशल हो। घर पर आने-जाने वालों के साथ, बिना किसी भेद-भाव के, उचित और सद् व्यवहार करे। सब का उचित मान करे, सब के साथ स्नेह रखे।

व्यवहार-कुशलता के साथ-साथ नारी में गृह-संचालन की योग्यता का होना भी आवश्यक है। गृहपति की आय के आधार पर घर की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करना, संतान को शिक्षित करना, आने-जाने वालों की अभ्यर्थना करना, अपने बुद्धि-कौशल की सहायता से, कुमार्ग पर जाने वाले घर के किसी भी व्यक्ति का सुधार करना—आदि बातें गृह-संचालन के अन्तर्गत् आती हैं। यह नारी का ऐसा गुण है, जो किसी भी घर को नरक से स्वर्ग बना सकता है। अगर आप अपने घर को

स्वर्ग बनाना चाहते हैं, तो अपनी गृहिणी, पुत्री, बहिन सब में इन के गुणों का विकास कीजिये।

नारी लक्ष्मी है, क्योंकि वह संसार को शोभाशाली बनाती है। नारी दुर्गा है, क्योंकि वह आततायियों के लिये काल-स्वरूप है। वह पृथ्वी है, क्योंकि उसमें अपार सहिष्णुता का निवास है। वह आकाश के समान विस्तृत और सूर्य के समान ज्योति-स्वरूप है। किन्तु आप उसे गुलामी से मुक्त तो कीजिये, उसके गुणों का चमत्कार आपके सम्मुख प्रगट हो जायेगा।

विद्वानों की दृष्टि में नारी के तीन रूप हैं—साध्वी, भोग्या और कुलटा। जो स्त्री निःस्वार्थ भाव से अपने कुटुम्ब की सेवा करती है, अतिथि का सत्कार करने में तत्पर रहती है, पति से प्रेम तथा स्नेह का व्यवहार करती है—वह स्त्री साध्वी है। जो स्त्री पति की इच्छा से अथवा भय के कारण अपने कुटुम्ब तथा अतिथि की सेवा करती है—वह भोग्या है तथा जो स्त्री अपनी एवं अपने कुटुम्ब की मर्यादा को त्याग कर भोग-विलास, वैभव और ऐश्वर्य में डूबी रहती है, पति के साथ मनमाना व्यवहार करती है—वह स्त्री कुलटा है।

पुरुष तो एक ही कुल को आलोकित करता है, परन्तु कन्या दो कुलों में अपने तेज का प्रकाश विकीर्ण करती है। प्रेममयी, दयामयी, धैर्यमयी तथा धर्मशीला कन्या का जीवन इन गुणों पर टिका है। मनुस्मृति में गुणवती नारी को स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी बतलाया गया है। स्त्री, पुरुष के गृहस्थ-जीवन की आत्मा है। गृहस्थ की शोभा उसी से है। जिस घर में स्त्री का निवास नहीं है, वह घर सूना-सूना-सा दृष्टिगोचर होता है।

कोई भी व्यक्ति जो स्वयं को निर्बल और असहाय अनुभव करता हो, वह जीवन में कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। वह तो सर्वदा दूसरों का मुखापेक्षी ही बना रहेगा। आज की नारी की भी यही दशा है। भरण-पोषण एवं रक्षण के विषय में वह प्रत्येक क्षण पुरुष का ही मुँह देखा करती है और अपने जीवन की इसी में इति-श्री समझती है कि वह बच्चों को जन्म दे-दे और गलत-सलत ढंग से उनका पालन-पोषण कर दे।

हाँ, तो आज की नारी अगर अपनी पूर्व उन्नत दशा को फिर प्राप्त करना चाहती है तो उसके लिये आवश्यक है कि वह शिक्षा प्राप्त करे और स्वयं को निर्बल समझना बन्द कर दे। अपने मन में इस बात को दृढ़ता के साथ बिठा ले कि वह भी पुरुष के समान उन सभी अच्छे कार्यों को कर सकती है, जिनके पीछे से उन्नति का सूर्य झाँक रहा है। पुरुष भयंकर रूप से स्वार्थी है। वह नहीं चाहता कि कोई उससे आगे निकल जाये। इसीलिये उसने नारी-जाति को अंधकार के गहन गर्त में गिरा दिया है, जहाँ वह बेकस और बेबस तड़प रही है और सोचने लगी है कि पुरुष ही उसकी जीवन-नौका को पार लगा सकता है। मगर उसका यह सोचना भ्रम है। उसे अपने इस भ्रम का निवारण कर भरण, पोषण और रक्षण के सम्बन्ध में स्वयं-समर्थ बनना चाहिए ; तभी उसकी उन्नति सम्भव है।

यहाँ पर मैं पुरुष-वर्ग से भी एक बात कहना चाहता हूँ कि वह समय-रहते नारी के सम्बन्ध में अपने इस पैशाचिक दृष्टिकोण को बदल दे। किसी भी समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति पूर्ण रूपेण तभी हो सकती है, जब उस समाज, देश और राष्ट्र का नारी समाज शिक्षित, निर्भय और उन्नतिशील हो। नारी को

सोने की चमक-दमक से बहकाये रखने का अब समय नहीं रहा। अब समय आ गया है कि समाज का यह विशिष्ट अंग अपनी विशिष्टता को प्राप्त कर आगे आने वाली समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हो। हजारों वर्षों से पुरुष की गुलामी करते-करते नारी अपने स्वभाव को ही भूल गई है। वह विदुषी और गुणवती बनने के स्थान पर मूर्ख और डरपोक हो गई है, जिससे मानव समाज का घोर पतन हो रहा है। और वह समय अब अधिक दूर नहीं है, जब मानव-समाज अपना सब कुछ खोकर पशुओं की श्रेणी में सम्मिलित हो जायेगा। नारी, नर की शक्ति है—तो अपनी इस शक्ति को आप निकम्मी और कमजोर क्यों बनाना चाहते हैं? अब इसे अपनी गुलामी से मुक्त कीजिये और स्वाधीनता के साथ इसे समाज, देश और राष्ट्र के निर्माण-कार्य में लगने दीजिये। शिक्षा प्राप्त करने के लिये स्वतंत्रता का होना परम आवश्यक है; क्योंकि गुलामी में गुणों का अभाव रहता है।

नारी आपके घर की शोभा है। मगर वह आपके घर की शोभा तभी बन सकती है, जब वह व्यवहार-कुशल और नीतियुक्त गृह-संचालन में दक्ष हो। आज की नारी में इन दोनों ही गुणों का पूर्ण अभाव दिखलाई देता है। यही कारण है, जो आज वह इतनी अधिक अव्यावहारिक हो गई है कि वह जानती ही नहीं है कि व्यवहार किसे कहते हैं। अक्सर लोग कहते सुने जाते हैं, वह ने तो हमारा लड़का ही हमसे छीन लिया। एक मित्र अपने मित्र की पत्नि के सम्बन्ध में शिकायत करता हुआ कहता है 'भइया, ...की पत्नि से तो भगवान् बचावे। उसकी पत्नी के कारण मुझे तो उसके घर जाने में डर लगता है....।'

इस प्रकार, इस तरह के अनेक कथन आपके सम्मुख उपस्थित

किये जा सकते हैं—और इन सब का एक ही अर्थ है कि आज की नारियाँ व्यवहार-कुशल नहीं हैं। लगभग प्रत्येक गृहस्थ में आने-जाने वाले आते-जाते ही रहते हैं। कभी रिश्तेदार, तो कभी मिलने-जुलने वाले। वास्तव में, इन सब के स्वागत्-सत्कार का भार अधिकांश में गृहिणी पर ही पड़ता है। अगर गृहिणी व्यवहार-हीन है तो शीघ्र ही लोग उसकी व्यवहार-हीनता को समझ जायेंगे और आने-जाने में सकुचाने लगेंगे, जिससे समाज में विषमता उत्पन्न होगी और घर का वातावरण दूषित हो जायेगा। उस घर की सन्तान पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। बच्चे बा-अदब न रहकर बे-अदब हो जायँगे। सहृदयता, विनम्रता, सज्जनता आदि गुणों का उनमें पूर्ण अभाव हो जायेगा। इन गुणों के अभाव में आगे चलकर उनमें और भी अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जायँगी, जिससे उनका सामाजिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अतः इस बात की परम आवश्यकता है कि गृहिणी व्यवहार-कुशल हो। घर पर आने-जाने वालों के साथ, बिना किसी भेद-भाव के, उचित और सद् व्यवहार करे। सब का उचित मान करे, सब के साथ स्नेह रखे।

व्यवहार-कुशलता के साथ-साथ नारी मे गृह-संचालन की योग्यता का होना भी आवश्यक है। गृहपति की आय के आधार पर घर की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करना, संतान को शिक्षित करना, आने-जाने वालों की अभ्यर्थना करना, अपने बुद्धि-कौशल की सहायता से, कुमार्ग पर जाने वाले घर के किसी भी व्यक्ति का सुधार करना—आदि बातें गृह-संचालन के अन्तर्गत् आती हैं। यह नारी का ऐसा गुण है, जो किसी भी घर को नरक से स्वर्ग बना सकता है। अगर आप अपने घर को

स्वर्ग बनाना चाहते हैं, तो अपनी गृहिणी, पुत्री, बहिन सब में इन दो गुणों का विकास कीजिये।

नारी लक्ष्मी है, क्योंकि वह संसार को शोभाशाली बनाती है। नारी दुर्गा है, क्योंकि वह आततताइयों के लिये काल-स्वरूप है। वह पृथ्वी है, क्योंकि उसमें अपार सहिष्णुता का निवास है। वह आकाश के समान विस्तृत और सूर्य के समान ज्योति-स्वरूप है। किन्तु आप उसे गुलामी से मुक्त तो कीजिये, उसके गुणों का चमत्कार आपके सम्मुख प्रगट हो जायेगा।

विद्वानों की दृष्टि में नारी के तीन रूप हैं—साध्वी, भोग्या और कुलटा। जो स्त्री निस्वार्थ भाव से अपने कुटुम्ब की सेवा करती है, अतिथि का सत्कार करने में तत्पर रहती है, सभी से प्रेम तथा स्नेह का व्यवहार करती है—वह स्त्री साध्वी है। जो स्त्री यश की इच्छा से अथवा भय के कारण अपने कुतुम्ब तथा अतिथि की सेवा करती है—वह भोग्या है तथा जो स्त्री अपनी एवं अपने कुटुम्ब की मर्यादा को त्याग कर भोग-विलास, वैभव और ऐश्वर्य में डूबी रहती है, सभी के साथ मनमाना व्यवहार करती है—वह स्त्री कुलटा है।

सुपुत्र तो एक ही कुल को आलोकित करता है, मगर सुकन्या दो कुलों में अपने तेज का प्रकाश विकीर्ण करती है। प्रेममयी, दयामयी, धैर्यमयी तथा श्रमशीला कन्या का जीवन इस पृथ्वी पर धन्य है। मनुस्मृति में गुणवती नारी को स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी बतलाया गया है। स्त्री, पुरुष के गृहस्थ-जीवन की आत्मा है। गृहस्थ की शोभा उसी से है। जिस घर में स्त्री का निवास नहीं है, वह घर सूना-सूना-सा दृष्टिगोचर होता है।

ऐसी महिमामयी तथा संसार की अमूल्य निधि, नारी आज अपने औचित्य को बिल्कुल भुला बैठी है—इसीलिये समाज में दरिद्रता तथा असंतोष पूर्णरूपेण व्याप्त हो गया है। समाज की शान्ति खतरे में पड़ गई है। गृहस्थ की गाड़ी को ढकेलना अति कठिन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में नारी का जगना परम आवश्यक है। वह पुरुष की शक्ति है। अपनी इस शक्ति की सहायता के विना अकेला पुरुष कुछ भी कर सकने में नितान्त असमर्थ है। संसार में अवतीर्ण होने एवं उसके प्रति निष्ठावान् बने रहने का आपका ध्येय तभी पूर्ण होगा, जब नारी हजारों वर्षों की गुलामी से छुटकारा पाकर सजग हो उठेगी। अपने गुणों की सुगन्ध से इस संसार में वह आनन्द और शान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देगी।

तब, इस संसार में आप एक अनोखी आभा के दर्शन करेंगे।

दिनांक :	स्थान :
४-५-५६	बेंगलोर (महिला सम्मेलन)

चार :

विश्व-शान्ति के मूलाधार

सुख और शान्ति की क्षुधा मनुष्य की स्वाभाविक और नैसर्गिक क्षुधा है, इस क्षुधा की तृप्ति कैसे हो ! इस प्रश्न के चारों ओर चक्कर लगा रहा है सब कोई। प्रवक्ता मुनि जी ने सुख व शान्ति के मूलाधार प्रस्तुत किये हैं। इन मूलाधारों पर मनुष्य आस्था ले पाए तो कितना अच्छा हो ! —सं०

आज का विषय बड़ा व्यापक और सार्वजनिक है। व्यापक इसीलिए कि शान्ति की यह समस्या किसी एक व्यक्ति की, किसी एक कुटुम्ब की, किसी एक गांव की, किसी एक प्रान्त की अथवा किसी एक राष्ट्र की नहीं है, बल्कि सारे विश्व की है। और सार्वजनिक इसलिए कि सभी मनुष्य इसे सुलझाना चाहते हैं—शान्ति पाना चाहते हैं !

जिसे पाना चाहते हैं, पर जो प्राप्त नहीं होती, उसे समस्या कहते हैं। हम सब शान्ति चाहते हैं, पर शान्ति हम से काफी दूर है—इसीलिए विश्व-शान्ति की समस्या आज हमारे सामने है।

किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए सब से पहले हमें उसमें बाधा डालने वाले कारणों पर विचार करना पड़ता है, फिर साधक कारणों पर। आइये, हम भी पहले विश्व-शान्ति के बाधक कारणों का विचार करें।

स्वार्थान्धता—अर्थात्—प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है। स्वार्थ उतना बुरा नहीं है, उतना त्याज्य नहीं है—जितनी बुरी या त्याज्य है, स्वार्थान्धता। स्वार्थ के वशीभूत होकर जहां दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण किया जाता है, दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है, दूसरों को सताया जाता है, दूसरों को धोखा दिया जाता है, ठगा जाता है—वहां स्वार्थान्धता होती है। यह बुरी है, बहुत बुरी है—विश्व-शान्ति में सब से बड़ी बाधा यही डाल रही है।

आज हम देखते हैं कि इसी स्वार्थ-वृत्ति के कारण एक बड़ा व्यापारी दूसरे छोटे-छोटे व्यापारियों के व्यापार को चौपट करने की कोशिश करता है। एक मिनिस्टर अपने प्रतिपक्षी मिनिस्टर को हर-तरह नीचा दिखाने के लिए भारी से भारी षड्यन्त्र रचता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करके उसे गुलाम बनाने का प्रयत्न करता है—यह सब क्यों?

सिर्फ इसीलिए कि हमारी स्वार्थान्धता ने हमें अविवेकी बना दिया है, हमारी मनोवृत्तियों को संकुचित बना डाला है—हम से विश्व-बन्धुत्व की भावना को छीन लिया है।

खूब याद रखिये कि जहां स्वार्थान्धता है, वहां शोषण है।

जहां शोषण है, वहां अनुचित एवं अनावश्यक संग्रह है। जहां संग्रह है, वहां संघर्ष ही संघर्ष है। और जहां संघर्ष है, वहां भला शान्ति कहां ?

स्वच्छन्दता—विश्व-शान्ति में यह दूसरी बाधा है। स्वच्छन्दता; अर्थात्—न्याय-अन्याय की पर्वाह न करके मनमाना व्यवहार करना। बिना स्वार्थ के भी मनुष्य कभी-कभी लापर्वाही के कारण दूसरों का दुःख बढ़ा देता है। स्वतन्त्रता बुरी नहीं है, क्योंकि उसमें नैतिक मर्यादा की अवहेलना नहीं की जाती। बुरी है सिर्फ—स्वच्छन्दता, जिसमें मर्यादा का जरा भी विचार नहीं किया जाता। आये दिन अखबारों में छात्रों की उच्छृंखलता के, असभ्यता के तथा अशिष्टता के समाचार छपते ही रहते हैं। आपके भी पढ़ने में आये होंगे। यह स्वच्छन्दता का ही एक प्रकार है।

अधिकारों के, सम्पत्ति के, और शक्ति के उन्माद में पागल बने हुए आज के बहुत से राष्ट्र वैज्ञानिकों को रिश्वत देकर उनसे एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि एक-से-एक बढ़कर संहारक शस्त्रास्त्रों के आविष्कार करवाते हुए अपनी स्वच्छन्दता का ही तो परिचय दे रहे हैं।

वैसे देखा जाय तो विज्ञान बुरा नहीं है—वह धर्म का पूरक है। यदि हम चाहें तो उसका सदुपयोग भी कर सकते हैं। कहीं दुष्काल पड़ जाय, बाढ़ आ जाय, भूकम्प से शहर नष्ट हो जायें—तो रेडियो, टेलीफोन आदि के द्वारा सारे देश में उसके समाचार फैलाये जा सकते हैं और हवाई जहाज, रेल आदि के द्वारा अन्न, धान्य आदि वहां पहुंचा कर अकाल पीड़ितों की सहायता की जा सकती है। यह है—विज्ञान के आविष्कारों का सदुपयोग !

परन्तु यदि कोई रेल, हवाई जहाज आदि के द्वारा अन्नादि

न भेज कर संहारक अस्त्र-शस्त्र भेज दे तो इसमें विज्ञान का क्या कसूर? यह अपराध तो भेजने वालों का है, विज्ञान का दुरुपयोग करने वालों का है। इस दुरुपयोग का कारण है स्वच्छन्दता। इसलिए जब तक प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र की स्वच्छन्दता नष्ट नहीं हो जाती, तब तक विश्व-शान्ति की समस्या भी उलझी ही रहेगी।

यों तो विश्व-शान्ति के बाधक कारण अनेक हैं, परन्तु स्थूल दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वार्थान्धता और स्वच्छन्दता; ये दो कारण ही मुख्य मालूम होंगे। अन्य कारणों का इन्हीं दोनों में समावेश हो जाता है। यदि हम विश्व-शान्ति की समस्या को सुलझाना चाहते हैं, तो हमें सब से पहले इन दोनों बाधक कारणों को हटाना होगा। स्वार्थान्धता का त्याग करना होगा—स्वच्छन्दता को नेस्तनाबूद करना होगा।

आइये, अब कुछ साधक कारणों पर भी विचार करें। सबसे पहला साधक कारण है—अहिंसा।

अहिंसा— हिंसा न करना, दूसरों का दिल न दुखाना, दूसरों को न सताना—यह अहिंसा का अभावात्मक रूप है, निषेधात्मक पहलू है, किन्तु इसका एक भावात्मक रूप भी है और वह है—दूसरों से प्रेम करना, दूसरों की यथाशक्ति सेवा और सहायता करना।

दोनों पहलुओं को समझने पर ही अहिंसा की पूर्ण व्याख्या ध्यान में आ सकती है। आचार्यों ने कहा है:

"असुहादो विणिवित्ती,
सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।"

अशुभ (पाप) से निवृत्ति और शुभ (परोपकार आदि) में प्रवृत्ति करना ही 'चारित्र' है। 'झूठ मत बोलिये !'—सिर्फ इतना ही विधान काफी नहीं है, 'सच बोलिये !'—ऐसा विधान भी जरूरी है। एक विधान में दूसरे विधान का समावेश अनायास ही हो जाता है। इसलिए दोनों विधानों का अलग-अलग उल्लेख न किया जाय तो भी वहाँ दोनों का; अर्थात्—एक के साथ दूसरे का अस्तित्व रहता ही है। 'अहिंसा' के लिए भी यही बात है। इस शब्द की रचना में भले ही निषेधात्मकता हो, परन्तु इसमें 'हिंसा छोड़ो' के साथ ही 'प्रेम करो !'—ऐसा विधान है ही; जिसे भगवान् महावीर ने—'*मित्ती मे सव्वभूएसु*' इन शब्दों से प्रकट किया है।

प्रत्येक मनुष्य ही क्यों ? प्रत्येक प्राणी जीने की इच्छा रखता है। प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने का समान रूप से अधिकार है। कोई प्राणी मरना नहीं चाहता। इसलिए हमें किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। यदि कोई हमें गालियाँ सुनाये, अपमानित करे—मारे या पीटे तो हमें दुःख होगा। ठीक इसी प्रकार दूसरों को भी होगा; इसलिए हमें चाहिये कि हम भी कभी किसी को गालियाँ न दें, अपमानित न करें, न मारें, न पीटें। यदि कोई दुःखों या संकटों के बीच हमें सहायता पहुँचायें तो आनन्द आयेगा। ठीक उसी प्रकार दूसरों को भी आयेगा, इसलिए हमें भी दूसरों को उनके संकट काल में सहायता पहुँचानी चाहिये।

मतलब यह है कि जो-जो कार्य हमें बुरे लगते हैं—जो-जो व्यवहार हमारे लिए दुःख-जनक हैं, उन कार्यों या व्यवहारों का प्रयोग हमें भी दूसरों के साथ नहीं करना है। और जो-जो कार्य या व्यवहार दूसरों के द्वारा किये जाने पर हमें अच्छे लगते हैं,

उनका प्रयोग हमें भी सदा दूसरों के प्रति करते रहना है। इसी बात को श्रीमद्भगवत गीता में यों कहा गया है :

"आत्मौपम्येन सर्वत्र,
समं पश्यति योऽर्जुन !"

सब को अपने समान ही देखो ; अर्थात्—जैसे हमें सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को होता है—ऐसा समझो।

यदि अहिंसा का यह विराट् धर्म—प्रेम का यह पवित्र सिद्धान्त, प्रत्येक व्यक्ति में और प्रत्येक राष्ट्र में फैल जाय तो क्यों कोई दूसरों को अशान्त बनायेगा ? क्यों एक राष्ट्र दूसरों के अधिकारों को कुचलेगा ? क्यों एक देश दूसरे देशों पर अनुचित आक्रमण करेगा ? बल्कि सभी परस्पर प्रेम से और शान्ति से रहने लगेंगे। इस अहिंसा ने ही हमें—'जीओ और जीने दो' का विधान समझाया है। विश्व-शान्ति के लिए दूसरा साधन है—क्षमा।

क्षमा या सहिष्णुता—भूल प्रत्येक प्राणी से होती है और वह सुधर भी सकती है, किन्तु यदि हम क्षमा या सहिष्णुता से काम न लें तो उसकी प्रतिक्रिया होती है। भगवान् महावीर ने अनेक बार कहा है कि—'खून का दाग यदि कपड़े पर लग जाय तो उसे खून से नहीं धोना चाहिये।' महात्मा बुद्ध ने भी धर्म देशना देते हुए प्रकट किया है :

"नहि वेरेण वेराणि, सम्मंतीध कदाचणं।"

वैर से वैर शान्त नहीं होता—कभी नहीं होता। यदि किसी अपराध के बदले हम किसी को जान से मार डालते हैं, तो कल उसका पुत्र हमें मारेगा। फिर हमारा पुत्र भी उसे मार कर

बदला लेगा। इस प्रकार कई पीढ़ियों तक यह बदले की परम्परा चलती रहेगी और दोनों पक्षों को अशान्त बनाये रखेगी।

वैर को जीतने के लिए क्षमा ही का खास उपयोग होना है। नीतिकारों ने कहा है :

"क्षमाशस्त्रं करे यस्य,
दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः,
स्वयमेवोपशाम्यति॥"

जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, दुष्ट उसका क्या बिगाड़ सकेंगे? जहाँ घास न हो, ऐसी जमीन पर पड़ी हुई आग स्वयं ही बुझ जायगी।

एक दृष्टान्त के द्वारा मैं क्षमा का प्रयोग समझाना चाहता हूँ। सुनिये :

क्षमा की क्रोध पर विजय—एक सन्यासी था। उसका यह नियम था कि जिज्ञासु बनकर जब कोई उसके पास जाता था, तभी वह उसे उपदेश देता था, अन्यथा नहीं।

घूमता हुआ वह एक शहर के बाहर बने हुए बगीचे में पहुँचा, जो वहाँ के राजा ने बनवाया था। संन्यासी एक पेड़ की छाया में बैठकर प्रभु-स्मरण में लीन हो गया।

उधर से राजा भी अपनी रानी के साथ घूमता-फिरता विश्राम करने के लिए उसी बगीचे में आया। उसे नहीं मालूम था कि एक संन्यासी इसी बगीचे में एक जगह ध्यान लगाये बैठा है। इसलिए वह रानी के साथ निश्चिन्तता पूर्वक थोड़ी-सी देर तक क्रीड़ा करता है और फिर बातें करते-करते निद्रा लीन हो गया। रानी बैठी थी, क्योंकि उसे नींद नहीं आई थी; इसलिए

उसने सोचा कि क्यों न मैं इधर-उधर घूम-फिर कर बगीचे की शोभा देखूँ ? प्राकृतिक शोभा के निरीक्षण से बढ़ कर अमूल्य मनोरंजन का साधन और क्या होगा ?

आखिर वह उठी और ज्यों ही दस-बीस कदम आगे बढ़ी कि त्यों ही उसकी नजर एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठे हुए ध्यानस्थ संन्यासी पर पड़ी।

वर्षों बाद आज पहिली बार ही उसे सन्यासी के दर्शन का अवसर मिला था, इसलिए इसे अपने सद्भाग्योदय का परिणाम समझ कर वह उपदेश सुनने की दृष्टि से प्रसन्नता पूर्वक उसके निकट जा पहुँची और सविधि प्रणाम करके बैठ गई।

ध्यान पूरा होते ही सन्यासी ने जब आँखें खोली तो अपने सामने एक नौजवान सुन्दर तरुणी को देख कर फिर से आँखें बन्द कर लीं।

यह देखकर रानी ने विनय पूर्वक कहा—"मैं आपसे उपदेश के दो शब्द सुनने की ही इच्छा से आई हूँ। यहां आने का मेरा दूसरा प्रयोजन नहीं है। मैं यहाँ के राजा की रानी हूँ। थकावट के कारण राजा को अभी नींद आ रही है, इसलिए मैं अकेली ही उपदेश सुनने के लिए चली आई हूँ। कृपया उपदेश देकर मुझे कृतार्थ कीजिये।"

संन्यासी ने यह सुना, सुनकर मन में सोचा—मैं साधु हूँ। साधु की व्याख्या यों की जाती है :

"साध्नोति स्व-पर-कार्याणीति साधुः"

'जो अपने और पराये कार्यों की सिद्धि करता है; अर्थात्—जो आत्म-कल्याण के साथ ही साथ पर-कल्याण भी करता है, वही

साधु हूं। इसलिए मुझे इस समय पर-कल्याण रूप अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए रानी को उपदेश देना ही चाहिये।

'दूसरी बात यह है कि यह रानी स्वयं अपने जिज्ञासाभाव से प्रेरित होकर यहां आई है, इसलिए अपने नियम के अनुसार भी मुझे इसे कुछ उपदेश देना ही चाहिये।'

आखिर अपनी आंखें खोलकर सन्यासी ने विस्तार से अहिंसा और क्षमा का उपदेश दिया और बताया—'अहिंसा के ही बल पर तुम एकान्त में मेरे साथ शान्ति से बैठी हो। यदि तुम्हारे या मेरे मन में जरा भी द्वेष होता—वैर-भाव होता तो हम दोनों इस प्रकार बैठे हुए ज्ञान-चर्चा न करते, बल्कि परस्पर एक-दूसरे पर प्रहार करके लड़ मरते। हम सिंह को देखकर क्यों डरते हैं? इसलिए कि वह एक हिंसक प्राणी है, वह हमें खा जायगा—ऐसी सम्भावना रहती है। सांप को देख कर हम दूर क्यों भागते हैं? इस डर से भागते हैं कि वह क्रूर प्राणी है—विषैला जीव है, इसलिए क्रुद्ध होकर कहीं हमें डस न ले!'

परन्तु विचारकों का कहना है कि मनुष्य में इतना अधिक जहर है कि उतना और किसी विषैले जन्तु में नहीं है! इतनी अधिक क्रूरता है कि उतनी और किसी हिंसक प्राणी में नहीं है! सांप एक-दो मनुष्यों को ही दिन भर में डसेगा—सिंह चार-पांच को ही दिन भर में समाप्त करेगा, परन्तु यह मनुष्य नामक जन्तु हजारों, लाखों, करोड़ों मनुष्यों का संहार एक दिन में कर डालता है। महाभारत के युद्ध में अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाओं का क्या हुआ? पिछले महायुद्ध में कितने सैनिकों का खून बहाया गया? और यह प्रचण्ड संहार करने वाला सिंह या सांप जैसा कोई

अन्य प्राणी नहीं, 'मनुष्य' नामक महाक्रूर जन्तु ही है। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि हमें इस क्रूरता को सब से पहले नष्ट करना है, जिससे कि अहिंसा का प्रसार हो।

दूसरी बात है—सहिष्णुता। यदि हम आगे-पीछे का विचार किये बिना बार-बार उत्तेजित हो जाते हैं—जरा-जरा सी बात का बुरा मान बैठते हैं—तो हम स्वयं भी अशान्त होते हैं और दूसरों को भी अशान्त बना देते हैं। अपराध को क्षमा करके ही हम अपराधी का हृदय परिवर्तन कर सकते है........।

इस प्रकार उधर उपदेश का प्रवाह चल ही रहा था कि इधर राजा की नींद खुल गई।

रानी को अपने पास न देखकर उसे आश्चर्य हुआ कि वह अकेली कहाँ चली गई? फिर विचार आया कि हो सकता है, दिल बहलाने के लिए वह बगीचे में ही कहीं घूम रही हो। तलाश करने की दृष्टि से वह भी उठकर इधर-उधर टहलने लगा। उसी समय सहसा उसके कानों में उपदेश की अस्पष्ट आवाज आई। जिधर से आवाज आ रही थी, उधर कुछ दूर जाने पर उसके क्रोध की सीमा न रही; यह देख कर कि मेरी रानी एक पर-पुरुष के साथ एकान्त में बैठी है!

विचारकों का कहना है—*'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि'* अर्थात्—मनुष्य जैसा स्वयं होता है, वैसा ही वह दूसरों को भी समझ लेता है। राजा कामुक था, पर-स्त्री लम्पट था, विलासी था; इसलिए सन्यासी को भी उसने अपने जैसा ही कामुक, लम्पट और विलासी समझ लिया था।

उसने डाँट कर सन्यासी से कहा—"अरे लम्पट! क्या तुझे दुनिया भर में और कोई स्त्री नहीं मिली कि जिससे मेरी

मेरी रानी पर ही डोरे डालने की सूझी ? तू जानता नहीं कि मैं राजा हूँ ? सीता को बचाने के लिए जैसे राम ने रावण का संहार किया था, वैसे ही मैं भी अपनी रानी को तेरे जाल में नहीं फँसने दूँगा। तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, समझा ! पर-स्त्री के साथ एकान्त में बातें करते तुझे शर्म नहीं आई ? क्यों इस पवित्र वेष को धारण करके तू इसे अपवित्र बना रहा है ? यदि तू सच्चा संन्यासी है, सच्चा योगी है, सच्चा तपस्वी है तो सम्हाल अपनी शक्तियों को, और आ जा मैदान में...... !'

संन्यासी यह सुनकर भी पूर्ण रूप से अक्षुब्ध बना रहा और उसने शान्ति से ही उत्तर दिया—'राजन् ! धर्म का उपदेश देना ही साधुओं का कर्त्तव्य है, लड़ना-झगड़ना या युद्ध करना नहीं। मैं अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ। इससे मुझे जो आत्म-सन्तोष मिलता है, वही मेरी पूँजी है—जो आनन्द मिलता है, वही मेरी शक्ति है। विरोधियों को परास्त करने का एक जबर्दस्त हथियार है मेरे पास; जिसका नाम है—क्षमा। इस क्षमा ने ही मुझे निर्भय बना दिया है ! डरे वह जो पापी हो, जिसने पाप किया हो—निरपराधी सदा निर्भय होता है।'

राजा ने कहा—'देखता हूँ, तू कितना निर्भय है ! ले सम्हाल इस तलवार के वार को...... !'

ऐसा कह कर राजा ने योगी का पहले एक हाथ और फिर दूसरा हाथ भी तलवार के प्रहार से काट डाला ! किन्तु योगी के चेहरे पर शिकन न आई। यदि अपने हाथ पर पत्थर की जरा भी चोट लग जाय, सुई चुभ जाय या चमड़ी छिल जाय तो साधारण मनुष्य क्रुद्ध होकर चिल्ला उठेगा, परन्तु योगी की वह अद्भुत क्षमा असाधारण थी। उसने उफ् तक न की। सिर्फ

इतना ही कहा—'परमेश्वर ! आपको अच्छी बुद्धि दें ! आपके अपराध को मैं क्षमा करता हूँ।'

इस वाक्य ने राजा की कोपाग्नि में घृताहुति का काम किया। वह और अधिक उत्तेजित हो उठा। सच ही तो कहा गया है—

"उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये"

अच्छी-से-अच्छी बातों को सुन कर भी मूर्ख गुस्सा करते हैं, परन्तु शान्त नहीं होते। राजा का भी यही हाल था।

उसने दूसरी बार कड़क कर कहा—'तेरे पास है ही क्या शक्ति, जो तू मुझे क्षमा करेगा ? तुझ से क्षमा माँगी किसने है ? मुझे तेरी क्षमा की कोई आवश्यकता नहीं है। दम्भी ! ले यह दूसरा प्रहार।'

ऐसा कह कर राजा ने उसके दोनों पैर भी काट दिये। फिर भी योगी ने शान्ति से सिर्फ यही कहा—'राजन् ! मुझे आपके कार्य पर दया आ रही है। अभी आपको गुस्से में अपना कर्त्तव्य नहीं सूझ रहा है; किन्तु जब सूझेगा, तब आप हाथ मल-मलकर पछतायेंगे। अपराध का विचार किये बिना दण्ड देना पाप है—अन्याय है। यह अन्याय और पाप आगे चल कर आपके मन में शल्य की तरह चुभेगा।'

राजा ने योगी की बात सुनी-अनसुनी कर दी और अपनी रानी को साथ लेकर राजमहल में लौट गया।

रात हुई; परन्तु न राजा को नींद आई, न रानी को। रह-रह कर दोनों को योगी की वह शान्त मुखमुद्रा याद आने लगी। आखिर रात्रि को ही बारह बजे अपने मन का बोझ हल्का करने के लिए वे दोनों फिर योगी के निकट पहुँचे और एक ओर से

छिपकर खड़े-खड़े योगी की आवाज इस प्रकार सुनने लगे—'हे परमेश्वर ! मैंने तो शान्ति से इन कटे हुए हाथ-पांवों को देख लिया और इनकी प्रचण्ड वेदना को सह भी गया, किन्तु वह अज्ञानी सुकोमल शरीर वाला भोला राजा नरक की भीषण यन्त्रणाओं को कैसे देखेगा ! कैसे उन्हें सह पायेगा !! मैंने तो हृदय से उसे माफ किया है, पर तू भी उसे अवश्य माफ कर देना—ऐसी मेरी तुझ से प्रार्थना है ।'

योगी के मुँह से निकले हुए ये उद्गार सुन कर राजा का रहा-सहा क्रोध भी मर्द हो गया और उसकी आँखों से आंसुओं की अविरल धारा बह चली। वह तुरन्त योगी के निकट गया और उसके सामने दीनतापूर्वक जमीन पर लोट कर क्षमा मांगने लगा और अपने किये पर खूब पश्चात्ताप करने लगा। रानी ने भी बार-बार प्रणाम करके अपने पतिदेव को सद्बुद्धि प्राप्त होने का हर्ष प्रकट किया। यह है—क्रोध पर क्षमा की अपूर्व विजय।

यह है—क्षमा, शीलता या सहिष्णुता का एक आदर्श रूप ; जिससे शत्रु का हृदय भी कठोर से कोमल बनाया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में यह गुण उतरना चाहिये।

कहने का आशय यह है कि विश्व-शान्ति की समस्या को सुलझाने के लिए स्वार्थान्धिता और स्वच्छन्दता को छोड़कर अहिंसा और क्षमा को अपनाना चाहिये। बस, यही विश्व शान्ति का मूल धन है। विश्व-शान्ति के ये मूलाधार हैं।

दिनांक : १६-८-५९ | स्थान : बेंगलोर : मठ

सर्वोदय का गान !

विश्व समन्वय अनेकान्त पथ,
सर्वोदय का प्रतिपल गान !
मैत्री करुणा सब जीवों पर,
विश्व-धर्म जग ज्योति महान् !!

जीवन का आदर्श !

आँखों में हो तेज—
तेज में सत्य, सत्य में ऋजुता !
वाणी में हो ओज—
ओज में विनय, विनय में मृदुता !!

पांच :

शक्ति का अक्षय स्रोत : अहिंसा

सामाजिक जीवन को छोड़कर किसी गिरि कन्दरा में बैठकर कोई कहे कि मैं अहिंसा का पालन कर रहा हूं तो यह कोई बड़ी बात नहीं ! बड़ी बात है—दूकान पर सौदा लेने और देने समय; यहां तक की किसी को दण्ड देते और युद्ध करते समय भी अहिंसक बने रहना ! मुनि जी का यह विश्लेषणात्मक भाषण अहिंसा के सम्बन्ध में नई दृष्टि, नया विचार और नया चिन्तन देगा, और देगा तार्किक बुद्धि को नया समाधान ! —सं०

मानव—विचार, मनन और मंथन में, सक्षम अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह अपने जीवन को नितान्त उज्ज्वल बना सकता है। वैसे तो प्राणी मात्र में सिद्धत्व और बुद्धत्व जैसे गुणों की उपलब्धि की सम्भावनाएँ हैं, किन्तु वे अपनी शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलताओं के कारण दैवी सम्पत्ति के महत्व को हृदयङ्गम

करने में बहुत कम क्षमता रखते हैं। नारकीय जीवों में शान्ति का अभाव रहता है तथा वे वातावरण से अभिभूत रहने के कारण, निरन्तर व्यथित एवं त्रसित रहते हैं। उनका सब से बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वे मानवों के समान अपने हिताहित कृत्याकृत्य को परख नहीं सकते। विवेक-बुद्धि का उनमें अभाव है। स्वर्गीय देवतागण भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते हैं, जिससे केवल तप और त्याग से प्राप्त परमानन्द से वे वंचित ही रहते हैं। इस भांति केवल मानव ही एक ऐसा विचारशील एवं मननशील प्राणी है, जिसमें अपने वास्तविक हिताहित कृत्याकृत्य को परखने की विलक्षण क्षमता पाई जाती है। मानव ही अपने जीवन की संजीवन-विद्या के रहस्य को समझ सकता है।

समस्त भारतीय वाङ्मय एवं प्राचीन उपलब्ध साहित्य की सर्व प्रथम, सर्व प्रमुख अन्तर्चेतना एवं अन्तर्प्रेरणा है—अहिंसा। हमारे समस्त पुराण एवं इतिहास ग्रंथ अहिंसा के गुरु-गम्भीर उद्घोष से गुञ्जित हैं। सर्वत्र ही इस बात पर जोर दिया गया है कि मानव-जीवन की सफलता एवं सिद्धि के लिए अहिंसा तत्त्व को जानना अत्यावश्यक है। यह अहिंसा तत्त्व वास्तव में अखिल शक्तियों का अजस्र स्रोत है। वैसे तो अहिंसा तत्त्व की विशद व्याख्या महाकाय ग्रन्थ द्वारा ही विवेचित की जा सकती है, फिर भी उसका [illegible]म आभास कराना ही आज के प्रवचन का मूलोद्देश्य है।

अहिंसा के दो प्रमाण पक्ष हैं, जिनका हृदयङ्गम किया जाना सब से पहले आवश्यक होगा। अहिंसा, विधेयात्मक होती है एवं निषेधात्मक भी। अहिंसा का साधारण अथवा विविध अर्थों में प्रयोग का अभिप्राय है—किसी को पीड़ा नहीं

पहुँचना, हिंसा न करना। यह तो केवल अहिंसा का निषेधात्मक अभिप्राय हुआ। किन्तु अहिंसा का एक और अधिक गहन एवं रहस्यात्मक अभिप्राय भी है, जिसका आशय है—अपने जीवन को ऐसे साँचे में ढालना कि जिससे प्राणीमात्र को अपने जीवन की विविध शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक क्रियाओं प्रक्रियाओं द्वारा, किसी प्रकार की अशांति, विक्षोभ एवं विषाद की अनुभूति होने की संभावना ही नष्ट हो जाए।

निषेधात्मक अहिंसा—इस तत्त्व के भी अनेक पक्ष हैं, जो मननीय एवं विचारणीय हैं। वह किसी गुण-विशेष का द्योतक न होकर एक सर्वतोमुखी आध्यात्मिक अनुशासन का प्रतीक है। सूक्ष्म दृष्टि से देखे जाने पर, उसमें सभी उत्तम गुणों का समावेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ क्षमा से अभिप्राय है—यदि कोई व्यक्ति, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी व्यवहार करे, तो भी हमारे हृदय में उसके लिए रञ्चमात्र भी रोष न उपजे। यही नहीं, हम उसके अज्ञान का बोध कराने के अभिप्राय से, उसके साथ ऐसा मधुर एवं स्नेहपूर्ण व्यवहार करें कि उसे अपनी भूल का स्वयं ही अनुभव हो जाए। क्षमा की परिणति एवं चरम अभिव्यञ्जना यही है। ध्यान पूर्वक विचार करने पर ज्ञात होगा कि क्षमा के इस सक्रिय रूप के मूल में अहिंसा ही प्रमुख आधार है। जो व्यक्ति क्रोध या आवेग के परिणाम में स्वयं जला जा रहा है, उसके साथ आक्रोशपूर्ण व्यवहार तो उसकी क्रोधाग्नि में घृत-सिंचन का काम ही करेगा। ऐसा करने से तो स्वयं क्लेश की प्राप्ति एवं दूसरे को भी क्लेश का परिणाम मिलने के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। ऐसे में स्वयं अहिंसक भाव को अपनाने से ही आत्म-सन्तोष एवं पर-मार्ग प्रदर्शन संभव हो पायेंगे। जो

अपने साथ बुराई करे, उसके साथ हम मृदु-मिष्ट व्यवहार करें—जहर देने वाले को अमृत दें और पत्थर बरसाने वाले पर फूलों की बिखेर करें—ये सभी उदारतापूर्ण व्यवहार निषेधात्मक अहिंसा के मंगलमय पक्ष हैं।

विधेयात्मक अहिंसा—अहिंसा-तत्त्व का गहनतर एवं रहस्यात्मक तत्त्व ज्ञान है और तदनुसार अपने जीवन का नव सृजन है। उससे आध्यात्मिक अर्थ-दृष्टि की उपलब्धि होती है। वह एक प्रकार से मानव जीवन का सुसंस्कृत, सुविकसित एव समुज्ज्वल विकास का राज-मार्ग है। उससे सभी प्राणियों में समान भाव, शान्ति-पूर्ण व्यवहार एवं धैर्यशीलता के अद्भुत गुणों की सिद्धि होती है। यह विधेयात्मक अहिंसा की साधना, निरंतर अध्यवसाय, स्वात्मानुशासन एवं तपस्या की अपेक्षा रखती है और जल्दबाजी में सिद्ध नहीं हो सकती। श्रद्धा, विश्वास एवं तदर्थ *कष्ट सहन की उद्यतता*, उसके *अनिवार्य उपकरण* हैं। अहिंसा के इस बलशाली पक्ष से नीच विचार, अधीरता एवं क्षुद्रता के अवगुण विनष्ट हो जाते है। महाकवि मिल्टन ने अपनी एक विश्रुत कविता में कहा है कि—"अहिंसा एवं क्षमा अपूर्व गुण हैं, जिनके द्वारा मानव सर्वोत्तम सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है और मानव-गुणों का मुख्य द्वार अहिंसा अथवा निर्वैर ही है।"

प्रेम अहिंसा का उद्गम स्रोत है। इसका प्रारम्भ होता है ममत्त्व से! और इसकी परिणति होती है तादात्म्य में। जब दूसरे के दुःख-दर्द को हम अपना दुःख-दर्द मानने लगते हैं तो हमारे मन में अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है। इस भांति यह स्पष्ट है कि अहिंसा तथा उत्तम व्यवहार के मूल में प्रेम ही मौलिक तत्त्व है।

प्रेम-मूलक अहिंसा के द्वारा ही एक-दूसरे को परखने का अवसर मिलता है। ऐसी अहिंसा के राज्य मे भय का अस्तित्व नहीं रहता। आज मानव को जितना भय एवं त्रास अन्य मानवों के द्वारा मिलता है, उतना तो उसे सिंह या सर्प से भी मिलने की आशा नहीं रहती। इसका कारण यही है कि मानव-हृदय मे प्रेम का स्थान स्वार्थ ने प्राप्त कर लिया है। अहिंसा और प्रेम, नैसर्गिक मानव-गुण है। इनके क्रियात्मक व्यवहार के लिये हमें किन्हीं कार्यो एवं व्यापारों की खोज करनी नही पड़ती। दूसरे शब्दों में इसी को यों भी कहा जा सकता है कि अहिंसा तो अपने आप में स्वयंभू है, किन्तु हिंसा के प्रयोग के लिए हमें दूसरों की अपेक्षा रहती है। एक प्रकार से यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो समस्त कार्य, व्यापार एवं प्रत्येक क्रिया का आधार या तो अहिंसा है अथवा हिंसा। हिंसायुक्त आचरण एवं चिन्तन से मानव पाशविक बन जाता है। इसके अतिरिक्त अहिंसा के आचरण से मानव की प्रकृति मे दिव्यत्व की प्रतिष्ठा होती है।

भगवान् महावीर ने कहा है: *'एवं खु नाणिणो सारं जंन हिंसइ किंचणं।'* —सू० १,१,४,१० । ज्ञान का सार तो यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, आघात न पहुँचाना अथवा पीड़ा न देना। दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों को आनन्द पहुँचाने में ही ज्ञान की सार्थकता है। उपर्युक्त सूत्र में अहिंसा के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक—दोनों ही पक्षों की विशद एव सम्पूर्ण परिभाषा आ गई है। उपर्युक्त सूत्र की पूर्ति हमें दशवैकालिक सूत्र में मिलती है, जहाँ कहा गया है कि—"अहिंसा निउणा दिट्ठा"; अर्थात्—'द्रष्टा वही है जो कि अहिंसा के प्रयोग में निपुण है। इन थोड़े से शब्दों में गर्भित अहिंसा की विशद व्याख्या, बारंबार माननीय है।

हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए, इसको भी स्पष्ट किया गया है। उत्तराध्ययन-सूत्र में 'सव्वे पाणा पियाउया।' अ० २८,उ०३। सभी प्राणियों को जीवित रहना ही प्रिय है। कोई भी, किसी भी अवस्था में मृत्यु एवं दुःख को नहीं चाहता। इसलिए किसी को भी दुःख या मृत्यु अभीष्ट नहीं है, इसको सदा सर्वदा ही ध्यान रखना उचित है। अहिंसक व्यवहार इसीलिए सभी प्राणियों के लिए प्रेय भी है और श्रेयस्कर भी। इसी तत्त्व को यों कहा गया है—

"*पाणे य नाइवाएज्जा......निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥*" उ० ८-६

जो व्यक्ति प्राणियों का वध नहीं करता, वह उसी भांति हिंसा कर्मों से मुक्त हो जाता है, जैसे कि ढालू जमीन पर से पानी वह जाता है। उसको जन्म-मृत्यु के बीच परिव्याप्त विभिन्न हिंसात्मक कार्य-कलापों की कालिमा नहीं लग पाती और वह आद्योपान्त आत्म-शुद्ध बना रहता है। इसी हेतु भगवान् महावीर ने शान्ति की उपलब्धि का मार्ग बताते हुए यों कहा है—'क्रमशः प्राणीमात्र पर दया करना ही, शान्ति प्राप्त करना है।'

इस प्रकार अहिंसा तत्त्व की यदि व्यापक परिभाषा की जाये तो आध्यात्मिक दृष्टि से अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप है—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक आदि निकृष्ट भावों का परित्याग। केवल प्राणियों के प्राणों का हनन ही हिंसा नहीं है, वरन् वास्तविक बात तो यह है कि जब तक मानव हृदय में क्रोध-भाव आदि विद्यमान हैं, तब तक किसी के प्रति बुरा वर्त्ताव न करते हुए भी वह हिंसा से विमुक्त नहीं है। अहिंसा एक-देशीय एवं सर्व-देशीय—दो प्रकार की मानी जाती

है। सांसारिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति सर्व-देशीय अहिंसा का पालन तो नहीं कर सकता, किन्तु फिर भी वह नित्य प्रति के सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए एक देशीय अहिंसा का पालन करता ही रह सकता है। अहिंसक गृहस्थ, बिना प्रयोजन के या प्रयोजन से प्रेरित होकर, दोनों ही अवस्थाओं में, तुच्छ से तुच्छ प्राणी को भी कष्ट नहीं पहुँचायेगा। साथ ही देश-रक्षा एवं समाज-रक्षा के अभिप्राय से यदि उसे किसी कर्त्तव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर अस्त्र-शस्त्रों तक का प्रयोग भी करना पड़े तो वह अहिंसा व्रत का खण्डन नहीं माना जायेगा, क्योंकि ऐसे शस्त्र प्रयोग में मौलिक प्रेरक तत्त्व तो वही 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' ही है।

धर्मानुयायी गृहस्थ केवल स्थूल हिंसा का परित्याग कर पाता है। स्थूल हिंसा से अभिप्राय है—निरपराधी प्राणियों का संकल्प पूर्वक, दुर्भावना या स्वार्थ से प्रेरित होकर हिंसा न करना। किसी भी प्राणी का भोजन के निमित्त प्राण हरण न करना। प्रत्येक प्राणी को उपयुक्त समय पर भोजन की आवश्यकता होती है। उसे टालने का कभी भी आलस्य व प्रयत्न न करे। जैन शास्त्रों में—"भत्त पाण विच्छेए" नामक दोष से गृहस्थ दूर रहें, ऐसा उल्लेख है; अर्थात्—अपने आश्रित व्यक्ति से उसकी सामर्थ्य से अधिक काम लेना तथा उसे समय पर भोजनादि न देना भी हिंसात्मक दोष है। किसी भी प्राणी को अनुचित बन्धन में डालने से 'बन्धन' नामक हिंसात्मक दोष लगता है। किसी को मारना-पीटना या गाली देना आदि 'छवि विच्छेए' दोष कहाता है। मारने की अपेक्षा अपशब्द का व्यवहार भी महादोष माना जाता है। उक्त पांच प्रकार के हिंसात्मक दोषों से परे

रहना ही व्यावहारिक जीवन में अहिंसा का प्रयोग करना एवं हिंसा से दूर रहना है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अहिंसा पथ के पथिक को इस भांति मान-विचार करना चाहिए कि "जिसे मैं मारना चाहता हूँ, वह भी मैं ही हूँ, जिसके ऊपर मैं आधिपत्य स्थापित करना चाहता हूँ, वह भी मैं ही हूँ। जिसको मैं पीड़ा पहुँचाना चाहता हूँ, वह भी मैं ही हूँ। साम्य-योग की दृष्टि के अनुसार जिन दूसरे व्यक्तियों के साथ मैं भला या बुरा बर्ताव करना चाहता हूँ, वह भी मैं ही हूँ। दूसरों को बंधन में डालना, वस्तुतः स्वयं को ही बंधन में डालना है।" इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन साधक को अहिंसक जीवन की ऊँची आदर्श-भूमि पर ला खड़ा करता है।

गृहस्थ जीवन की भूमिका पर, जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्ति को चार प्रकार की हिंसा से बचना आवश्यक है—संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी। हिंसा के, इस दिन-प्रतिदिन के जीवन में आरोप की परिभाषा करनी आवश्यक है। सबसे पहले हम संकल्पी हिंसा को ही लें। किसी विशेष संकल्प या इरादे के साथ किये गए, हिंसात्मक व्यापार को 'संकल्पी' हिंसा कहा गया है। शिकार खेलना, मांस भक्षण करना आदि संकल्प कार्यों में 'संकल्पी' हिंसा होती है।

'विरोधी' हिंसा का अभिप्राय है—किसी अन्य द्वारा आक्रमण किये जाने पर उसके प्रतिकार करने में जो हिंसात्मक कार्य करना पड़ जाता है, उससे। यह आक्रमण अपने व्यक्तित्व पर, समाज पर, या देश पर, किसी पर भी, किसी के द्वारा कभी किया जा सकता है। ऐसे संकट काल में अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा आश्रितों की रक्षा के लिए युद्ध आदि में प्रवृत्त होने को 'विरोधी'

हिंसा कहा जाएगा। गृहस्थ जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित हो सकते हैं। ऐसे अवसर पर पीठ दिखा कर भागना अथवा जी चुराना, तो गृहस्थ अथवा सामाजिक कर्त्तव्य से प्रतिकूल होना है। हां, अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा यदि विरोध को अपनी व्यवहार कुशलता से टाला जाना सम्भव हो, तो उसके टालने का प्रयत्न अवश्य ही किया जा सकता है।

अमरीका के राष्ट्र-निर्माता अब्राहम लिंकन के कहे गये कुछ स्मरणीय शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं—'युद्ध एक नृशंस कार्य है। मुझे उससे घृणा है। फिर भी न्याय या देश-रक्षार्थ युद्ध करना वीरता है। अपने देश की अखंडता के लिये किये गये धर्म-युद्ध को मैं न्याय समझता हूँ। मुझे उससे दुःख नहीं होता।' एक जैनाचार्य का इस सम्बन्ध में कथन है—

"केवल दण्ड ही निश्चय रूप से इस लोक की रक्षा करने में समर्थ होता है। किन्तु राजा द्वारा समान बुद्धि एवं निष्पक्ष भाव से प्रेरित होकर यथा दोष चाहे वह शत्रु हो या अपना पुत्र हो, उसके साथ न्याययुक्त आचरण किया जाना उचित है। ऐसा दण्ड भी इस लोक में या परलोक में रक्षा करने वाला सिद्ध होता है।"

'आरम्भी हिंसा', मानव की नित्य प्रति की सहज जीवन-चर्या में भी जो हिंसात्मक कार्य-व्यवहार, बिना संकल्प के बनते ही रहते हैं। उनसे लगे हुए दोष का नाम आरम्भी हिंसा है। मानव को धर्म-कार्य के लिये भी शरीर की रक्षा अभिप्रेत है। तदर्थ भूख-प्यास के निवारण और आतप, शीत, वर्षा आदि से स्वरक्षण; इन में भी स्वाभाविक रूप से हिंसा होती रहती है। उसे हिंसा का 'आरम्भी' दोष कहा जाता है। 'हितोपदेश' में उक्त 'आरम्भी'

हिंसा के सम्बन्ध में एक मनोहर कथा को हरिणी के मुख से कहलाया गया है—

"जब वन में पैदा होने वाले शाक-सब्जी, घास-पात आदि के खा लेने से ही, किसी भी प्रकार उदर-पूर्ति की जा सकती है ; तो भला फिर इस आग लगे पेट को भरने के लिये महा पाप क्यों करें ?"

जैनाचार्य श्री हरि विजय सूरि आदि के सम्पर्क में आने से जब सम्राट् अकबर के मन में अहिंसा के प्रभाव से विवेक-बुद्धि जागृत हुई, उसका अबुलफजल ने यों वर्णन किया है कि—"सम्राट् अकबर ने कहा कि यह उचित नहीं जान पड़ता कि इन्सान अपने पेट को जानवरों की कब्र बनाये। मांस भक्षण मुझे प्रारम्भ से ही अच्छा नहीं लगता था। प्राणी रक्षा के संकेत पाते ही मैंने मांस भक्षण त्याग दिया !"

'उद्योगी हिंसा' आजीविका-सम्बन्धी वृत्ति के निर्वाह करते समय स्वतः होती रहने वाली हिंसा को कहते हैं ; जोकि कृषि आदि कर्मों में, जाने-अनजाने बन ही जाती है। फिर भी कृषि एवं वाणिज्य के मूल में लोक-मंगल एवं लोक-हित की भावना रहने पर 'उद्योगी हिंसा' के दोष का यत्किञ्चित परिमार्जन भी होना सम्भव होता है। इस भाँति हम देखते हैं कि जीवन क्या है? एक सतत संग्राम है। इसमें अनन्त परिस्थितियों मे होकर निकलना पड़ता है। किन्तु फिर भी यदि मानव अहिंसा के जीवन-सूत्र का निर्वाह करता हुआ इस धर्म-युद्ध में प्रवृत्त होता है तो उसकी विजय स्वतः ही सुनिश्चित रहती है। सभी महा पुरुषों की जीवन घटनाएँ इस तथ्य की साक्षी है कि उन्होंने

अपने कर्तव्य-निर्वाह की दुर्गम यात्रा में सदा ही 'अहिंसा' को सर्व-प्रथम माना है।

मानव एक चेतनाशील प्राणी है। किसी कारण वश उसकी यह चेतना शक्ति मन्द पड़ जाती है, तब वह आततायी एवं अत्याचारी हो जाता है। फिर भी उसकी नैसर्गिक सुप्त चेतना कभी न कभी जाग ही उठती है। तब उसे अपने किये हुए अज्ञानमय कार्यों पर पश्चाताप भी होता है। सिकन्दर, नेपोलियन, हिटलर आदि सभी ने अपनी जीवन-संध्या में यह अनुभव अवश्य किया कि उनके जीवन-काल में उनसे अनेक अन्यायपूर्ण एवं अनुचित कार्य बन पड़े, जिनका निराकरण करने के लिए उनके पास अन्त में कोई भी उपाय नहीं रहा। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति की धुन में उन्होंने असंख्य नर-नारियों के हंसते-खेलते जीवनों को ध्वंस कर डाला। सारांश तो यही है कि हिंसा में निरन्तर प्रवृत्त रहने पर भी अन्त में अहिंसा की ही स्नेहमयी गोद में मानव को शांति एवं विश्रान्ति मिल पायेगी।

आज के अविश्वासपूर्ण वातावरण में, इस बात पर विश्वास करना कठिन होता है कि हिंसक विचारों द्वारा आयु-बल क्षीण होते रहते हैं। निरन्तर हिंसात्मक विचारों में लीन रहना—निश्चित मृत्यु की ओर अग्रसर होने का ही द्योतक है। हिंसा-पूर्ण विचारों से मानव की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। उसकी शांति नष्ट हो जाती है। सद्वृत्तियां चली जाती हैं। इस भांति वह अनजाने ही सर्वनाश एवं मृत्यु के गह्वर में स्वयं ही दौड़ा चला जाता है।

वैज्ञानिक अभ्युदय के इस युग में, अहिंसा सम्पूर्ण विश्व के लिए आवश्यक है। आज का मानव भौतिक पदार्थों के माया-

मोह में मतिमूढ़ हो रहा है। फिर भी उसका प्रत्यक्ष परिणाम सभी के समक्ष है। एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति से आशंकित एवं भयभीत है। एक देश, दूसरे देश से शंकित एवं त्रस्त है। है। अणुबम आदि अनंत परम संहारकारी अस्त्र-शस्त्रों की होड़ ने आज मानव-जाति के भविष्य पर प्रलंयकर घटनाएँ छा डाली हैं। चन्द्रलोक में भी अपनी सत्ता जमाने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाला मानव कहीं अपनी इस घातक, संहारक उपकरण निर्माण की विघातक होड़ द्वारा कभी अपना अस्तित्व ही न मिटा ले, इसकी सदा ही आशंका बनी रहती है। इस विश्व-व्यापी अविश्वास, आतंक एवं हिंसा का निराकरण, केवल अहिंसात्मक संजीवन विद्या की साधना द्वारा ही सम्भव है।

अहिंसा के प्रयोग के लिए, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर, व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। समाज का प्रत्येक नागरिक अपने-अपने क्षेत्र एवं परिस्थिति के अनुसार अहिंसात्मक जीवन अपनाने की साधना में प्रवृत्त हो सकता है। एक डाक्टर या चिकित्सक यदि अपनी चिकित्सा वृत्ति एवं भेषज विद्या का लक्ष्य मात्र धनोपार्जन न रखकर, लोक-सेवा रख पाए, तो वह अधिक से अधिक अर्थों में एक अहिंसक जीवन बिताने में समर्थ हो सकता है। यदि कृषक संसार के भरण-पोषण की भावना से अन्न का उत्पादन करे, तो वह भी अहिंसा-व्रत का व्रती कहा जा सकता है। व्यापारी, लोक-हित को यदि प्रथम स्थान दे एवं धनार्जन को दूसरा, तो वह भी 'उद्योगी' हिंसा-दोष से बचा रह सकता है। श्रीमद् भगवद्गीता के अंतर्गत् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया है कि—'जो व्यक्ति अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने उत्तरदायित्व एवं स्वधर्म का निर्वाह करता है, वह चिरस्थायी एवं शाश्वत श्रेय का भागी बनता है।'

इस संजीवन-विद्या की महाशक्ति 'अहिंसा' की आराधना-साधना द्वारा मानव ऊँची से ऊँची आध्यात्मिक सिद्धि का अधिकारी बन सकता है। भगवान् महावीर का आविर्भाव, महात्मा बुद्ध से ८२ वर्ष पूर्व हुआ था। उन्होंने अहिंसा की अमोघ शक्ति का ज्ञान जन-साधारण को हृदयंगम कराया एवं २५ सम्राटों ने उनके धार्मिक उद्बोधन को सुनकर राजपाट का परित्याग करके अपरिग्रह व्रत अपनाया था। उन्होंने श्रेणिक महाराजा बिम्बसार द्वारा, उसके संपूर्ण राज्य में हिंसा निषेध करवा दिया था। उन्हीं की प्रेरणा पाकर लाखों कोट्याधीशों एवं लाखों सुकुमार ललनाओं ने वैभव पूर्ण जीवन को ठुकराकर, वैराग्य वृत्ति स्वीकार की थी। आज भी भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित जैन-धर्म के कारण विश्व में अहिंसात्मक भावनाओं एवं सिद्धान्तों का प्रचलन व अंगीकरण पाया जाता है।

दिनांक : स्थान :
२५०१वीं बुद्ध जयन्ती नेपाल

अहिंसा का आदर्श !

प्रगति राष्ट्र के जीवन तरु की,
है उद्योग प्रगति पर निर्भर !
किन्तु वही उद्योग हितंकर,
जिसमें रहे अहिंसा-निर्भर !!

छः :

सभ्यता का अभिशाप

आधुनिक सभ्यता वरदान है या अभिशाप ! आज का यह एक महा प्रश्न है। प्रखर प्रवक्ता मुनि जी का कहना है—मानवता से विहीन, किसी विकटतम पागल-पन की ओर हमें यह सभ्यता घसीट कर न ले जाए, जिसमें हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। मुनि जी ने इस विषय में स्पष्ट तर्क दिये हैं। आप भी चिन्तन कीजिए और अपना निर्णय दीजिए। —सं०

संस्कृति एक गूढ़ अर्थ वाला शब्द है। हम इसे केवल लक्षणों के द्वारा ही समझ पाते हैं। इसीलिये आज तक कोई भी विद्वान् इसकी पूर्ण-रूपेण व्याख्या कर सकने में समर्थ नहीं हो सका है। मगर सभ्यता की परिभाषा मनीषियों ने दी है। उनके शब्दों

में सभ्यता जीवन की वह विशिष्ट प्रणाली है, जिसको लोग किसी निश्चित् अवधि या समय के अन्तर्गत् अपनाए रहते हैं। इसके अन्तर्गत् मनुष्य का ज्ञान, आस्था, कला, नीति, धर्म, रीति-रिवाज, वेष-भूषा आदि उसकी सभी बातों का समावेश हो जाता है। वास्तव में, सभ्यता में मनुष्य जीवन की प्रतिदिन की उन सभी व्यावहारिक बातों का योग रहता है, जो उसके विचारों तथा भावनाओं में सम्मिलित रहती हैं। सभ्यता परिवर्तनशील है। युग की करवट के साथ वह भी बदल जाती है।

आज जिस युग में हम रह रहे हैं, वह बदला हुआ युग है। हमारी सभ्यता भी बदल गई है। वह आध्यात्मिक से भौतिक हो गई है। वह धर्म-मूलक न रहकर अर्थ-मूलक हो गई है। आज हमारा सम्पूर्ण चिन्तन अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहता है। मनुष्य के जीवन में अर्थ एक पहेली बनकर बैठ गया है और [illegible] में जीवन के प्रति चाह उत्पन्न हो गई है। अब मनुष्य के जी[illegible] सबसे बड़ा स्वार्थ मोक्ष नहीं; बल्कि पैसा है। आज प्रत्येक मनुष्य को पैसा कमाने की धुन है, प्रत्येक देश को मालदार बन[illegible] का पागलपन सवार है। धर्म, परमात्मा और आत्मा को वह भूल गया है, उसे केवल एक ही चीज का ध्यान है और वह है, पैसा! पैसे के बल पर ही उसके जीवन के स्तर को ऊँचा और नीचा माना जाने लगा है। इस पैसे की खातिर ही उसने पुरातन राज्य-व्यवस्था को भी बदल डाला है। अपने रहन-सहन के ढंग में भी उसने आमूल परिवर्तन कर दिया है। और जिन दो मुख्य ढंगों पर उसका आज का जीवन चल रहा है, वे हैं—लोकतंत्र की प्रणाली तथा साम्यवादी पद्धति! इन दोनों के तरीके ही निराले हैं। उसके ये दोनों ढंग सहयोग की

बात जरूर कहते हैं; मगर वैसे परस्पर लड़ना ही सिखाते हैं। अपने इस कथन की पुष्टि के निमित्त हम कल-परसों समाप्त होने वाले दोनों महायुद्धों की याद दिला देना पर्याप्त समझते हैं। इन दोनों महायुद्धों में मानव-जाति का कैसा भयंकर विनाश हुआ है, यह हम सब को विदित है; मगर तीसरे महायुद्ध की तैयारी भी जोरों पर है। परमाणु बम को बगल में दबाकर मनुष्य परस्पर सहयोग की बात करे, यह कैसे आश्चर्य की बात है! पशु बना हुआ आज का मनुष्य स्वयं को उच्चतम श्रेणी का मनुष्य घोषित करता है, यह हास्यास्पद नहीं तो और क्या है?

एक आत्मा इस संसार में अवतरित होती है—तो, क्या इसलिये कि वह अपनी-जैसी दूसरी आत्माओं का हनन करे! परिग्रह की भावना के वशीभूत होकर अन्य की आवश्यकताओं की वस्तुओं को छीन ले! दूसरों को रुलाकर, मिटाकर खुश हो—और बहाना यह करे कि उन दूसरों को सभ्य बनाने के लिये, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिये, उनको मनुष्य बनाने के लिये ही यह सब कुछ कर रही है। वास्तव में, कैसा वीभत्स मजाक है, आज की इस सभ्यता का! आज की इन राज्य-प्रणालियों का!! नाम-मात्र के इन महा मानवों का!!! अगर पक्षपात-रहित होकर सोचा जावे तो कोई भी विचारक इस सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि आज की सभ्यता का वास्तविक कार्य विनाश के आधार पर आधारित है, न कि निर्माण के! इसीलिये आज की ऊपर गिनाई गई इन दो मुख्य राज्य-प्रणालियों अथवा जीवन-प्रणालियों ने मनुष्य को 'अर्थ-पशु' बनाने की अधिक कोशिश की है, न कि महा-मानव बनाने की! आज का मनुष्य स्वार्थी अधिक हो गया और परमार्थी बहुत कम!

उसने सादा जीवन और उच्च विचार वाले अपने सिद्धान्त को बिल्कुल ही भुला दिया है। इसीलिये आज वह सन्तोष का अनुभव नही करता और वह दुःखी है। वह इस सत्य को भूल बैठा है कि भौतिक वस्तुओं में सुख खोजने वाले को कभी सुख नही मिलता—और वह दुःखी है।

हां, तो अगर आप यह चाहते हैं कि आपको वास्तविक सुख के दर्शन हों, तो आप एक बार फिर पुरातन भारतीय सभ्यता की ओर लौट चलिये। आत्मा, परमात्मा और धर्म वाले मार्ग पर कदम बढ़ाइये और इस लोक में भी सुख का अनुभव कीजिये तथा परलोक भी सुधार लीजिये। आप विश्वास कीजिये, कोई भी व्यक्ति धनवान हो जाने से महान् नहीं बन जाता। सचमुच वही व्यक्ति महान् है, जिसका आचरण शुद्ध और सात्विक है। और मनुष्य की महत्ता का यह आदर्श भारतीय सभ्यता में ही निहित है, योरोप की सभ्यता में न कभी रहा और न कभी रहेगा ही। अगर हम ध्यान पूर्वक देखें तो यह बड़े ही सहज भाव से कह सकते हैं कि योरोपीय देशों का व्यवहार सदा से ही मलीनता और क्रूरता की छात्रछाया में पला है। वे निर्लज्जता-पूर्वक क्रूर बनकर योरोप से बाहर के देशों का शोषण करते रहे हैं। मनुष्य के जीवन के साथ उन्होंने सर्वदा मौत का खेल खेलने में ही गौरव का अनुभव किया है। कहने का तात्पर्य है कि उनकी जीवन-प्रणाली में जनहित और मानव-कल्याण की भावना को कोई स्थान नहीं मिला है। ऐसी दशा में फिर उनको या उनकी सभ्यता को महान् किस प्रकार कहा जा सकता है?

जिस प्रकार धनवान होना महत्ता का सूचक नहीं है, ठीक इसी प्रकार विज्ञान में उन्नति कर सुख-सुविधा के अनेकानेक

साधन उत्पन्न कर देने से कोई व्यक्ति या कोई देश महान् नहीं कहा जा सकता। महान् तो वही व्यक्ति या देश हो सकता है, जिसका चरित्र पवित्र है। हम भली प्रकार देख-पा रहे हैं कि आधुनिक सभ्यता के चक्कर में पड़कर हमारे अपने देश का भी पतन ही हुआ है, उत्थान नहीं। फिर ऐसी सभ्यता को मुँह लगाने या अपनाने से क्या लाभ, जो हमें पतन की ओर ले जाये। हमारी एक-मात्र धरोहर हमारे चरित्र को कलुषित कर दे। हमें दूसरों के प्रति बर्बर बना दे। जीवन-व्यवहार की पवित्रता से वंचित कर हमें पागलपन का पाठ पढ़ाये। घोर स्वार्थ में लीन कर हमें परस्पर लड़ना सिखाये!

फिर तो आप अपनी पुरातन जीवन-प्रणाली की ओर ही मुड़ जाइए। यह आपकी जानी-पहचानी और आपकी अपनी है। आपके ऋषि-महर्षियों ने इसे अपनी धरोहर के रूप में आपके पास छोड़ा है। उनकी इस धरोहर की रक्षा करना आपका परम पवित्र कर्त्तव्य है। उनकी धरोहर के मूल तत्त्व ये हैं—

१: ईश्वर है; अर्थात्—उसका अस्तित्व परम सत्य है।
२: सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक इकाई है।
३: हम में से प्रत्येक इस एक इकाई का अंश है, ठीक इसी प्रकार, जिस प्रकार कि हमारा प्रत्येक अंग हमारे शरीर का एक अंश है।

अतः हम में से प्रत्येक को केवल अपने ही हित के लिये नहीं, वरन् समूचे संसार के हित के लिये कार्यरत रहना चाहिये। हमारे देश की महत्ता या समृद्धि इसी बात पर निर्भर है कि हम अपने जीवन में इसी प्रणाली को अपनाएँ। इसी जीवन-प्रणाली के अनुरूप परस्पर व्यवहार करें। जब सम्पूर्ण

ब्रह्माण्ड एक इकाई है तो इस संसार में पराया या गैर कौन है ! जिस प्रकार भावना के वशीभूत होकर हम पत्थर के टुकड़े को भगवान् समझ लेते हैं, तो सब को अपना क्यों नहीं समझ सकते ? हो सकता है, आप लोगों को मेरी यह बात कुछ अटपटी-सी जान पड़े ; क्योंकि आधुनिक सभ्यता के अभिशाप ने हम सब की बुद्धि पर ताला डाल दिया है। हमारे जीवन का स्वरूप ही बदल दिया है। हम अपनी पुरातन संस्कृति को भूल चुके है, जो विश्व-प्रेम से स्पन्दित है। यह सत्य है कि यह मार्ग आज के मार्ग से ठीक विपरीत है ; मगर इतना कठिन नहीं है, जितना कि आप समझ बैठे हैं—केवल आधुनिक सभ्यता के प्रलोभनों से छुटकारा पाकर इस ओर मुड़ जाना है। फिर, यह मार्ग बहुत ही सहज और सरल जान पड़ेगा।

हां, तो आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे विद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा दी जाये। टुकड़ों में बँटना नहीं, एक होना सिखाया जाय। हमारी शिक्षा का झुकाव नैतिकता और विश्व-प्रेम की ओर हो। आज की शिक्षा ने तो हमें एक निर्जीव यंत्र-मात्र बना दिया है। हम वास्तविक जीवन से बहुत दूर जा पड़े हैं। हम तो केवल अर्थ रूपी इंजन के कल-पुर्जे बनकर रह गये हैं। यह इंजन हमको खींचे लिये जा रहा है और हम खिंचे जा रहे हैं—अंधकार से परिपूर्ण गहरे गर्त्त की ओर ! मानवता से दूर—पशुत्व से भी हीन किसी विकटतम पागलपन की ओर ! जहाँ पहुँचकर हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। तब, ये जीव-जन्तु आपस में कहा करेंगे—एक जीव हमारे बीच और था ; मगर वह हम से भी गिरे हुए दर्जे का साबित हुआ और परस्पर लड़कर, सर्वदा-सर्वदा के लिये हमारे

बीच से उठ गया। यह है, आपका भविष्य, जिसे आप आधुनिक सभ्यता के द्वारा शीघ्र ही प्राप्त करने जा रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आप बहुत जल्दी ही इस पृथ्वी से कूच कर जाने की स्थिति में पहुंच रहे हैं—इस सभ्यता के द्वारा!

मेरी इस बात को सुनकर आप सोचेंगे कि मैं कैसी अनहोनी कल्पना कर रहा हूँ। आज कोशिश की जा रही है, चन्द्रमा पर पहुँचने की; शुक्र और मंगल पर पहुँचने की; और ये कह रहे हैं कि इन्सान मिट जाने की तैयारी में संलग्न है। सोचना आपका भी ठीक है। वास्तव में, एक ओर इन्सान इतना ऊँचा उठ जाने की चेष्टा में निमग्न है; मगर दूसरी ओर वह इस से भी अधिक नीचे गिर जाने, मिट जाने के चक्कर में फँसा है। यही आधुनिक सभ्यता का अभिशाप है, जो कुछ राजनीतिज्ञ हमें दे रहे हैं। उन में परस्पर होड़ मची है, एटम बम, परमाणु बम किसके पास अधिक हों! मानव को मिटा डालने के अस्त्र-शस्त्र किसके पास अधिक हों! कई देशों में अरबों-खरबों रुपया इन विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर खर्च किया जा रहा है। इस प्रकार कुछ लोग, आज की भाषा में महामानव, समूचे संसार के जीवन का ठेका अपने हाथ में ले बैठे हैं। उनका एकमात्र कार्य—व्यर्थ का प्रलाप कर संसार के लोगों को बहकाये रखना है और अपनी इस कला में वे सिद्ध-हस्त हैं। समूची दुनिया उनकी लच्छेदार बातों में फंसकर बावली बन बैठी है। आज के ये महापुरुष शान्ति की बात जरूर करते हैं; मगर शान्ति चाहते नहीं हैं। इनकी कथनी और करनी में जमीन-आसमान जैसा अन्तर है। तभी तो हम देखते हैं कि शान्ति स्थापना की बात कहकर संसार के किसी भी कोने में

ये लोग अपनी फौजें भेजकर कत्ले-आम मचा देते हैं। तो, संसार में शान्ति का वातावरण क्या इस प्रकार उत्पन्न होगा ? मैं कहता हूँ, कदापि नहीं ! सच्ची शान्ति तो संसार में तभी स्थापित होगी, जब मन की भावना बदलेगी। कथनी और करनी एक होगी। और यह तभी सम्भव है, जब हमारा चिन्तन धर्म-मूलक हो। परस्पर हमारा व्यवहार भाई-चारे का हो। ईश्वर में हमारी दृढ़ आस्था हो। समूचे ब्रह्माण्ड को हम एक इकाई समझें। धन के प्रति हमारा लगाव समाप्त हो जाये। हम मनुष्यता को पहचानें। मनुष्यता के पथ पर ही हम आगे बढ़ें—अर्थात् अपनी प्राचीन सभ्यता का पुनरुत्थान करें।

हमारे सामाजिक ढाँचे का मूलाधार सदियों पुराना है। हमारे भविष्य के निर्माण का कार्य इसी मूलाधार के आधार पर स्थिर रहकर हो सकता है, आधुनिक सभ्यता के सहारे नहीं। आधुनिक सभ्यता तो भौतिकता का सहारा लेकर चल-फिर रही है, मगर हमारी प्राचीन सभ्यता में भौतिकता तथा मानवीयता—दोनों को ही स्थान मिला है। बिना मानवीयता के भौतिकता एक निकम्मी वस्तु है। मानवीयता से हीन भौतिकता में मानव के विनाश का स्वर गूँजा करता है। अतः जिन बातों पर हमें विचार करना है, वे हैं :—

१ : क्या मानव-समाज के निर्माण में मानवीय पक्ष की अवहेलना ही आज के संसार की विकट स्थिति का कारण नहीं ?

२ : क्या यह सही और वास्तविक निदान या इलाज नहीं कि हम इस विनाशोन्मुख संसार को बचाने के लिये मानवीय पक्ष को पुनर्जीवित करें ?

३ : क्या इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हमारी प्राचीन सभ्यता सर्वांग में हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती ?

४ : यदि इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हमारी प्राचीन सभ्यता सर्वांग में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है, तो क्यों न हम इस सभ्यता के पुनर्जीवन के लिये एक भागीरथ प्रयत्न करें ?

५ : क्या आधुनिक सभ्यता जो आज हमारी मार्ग-दर्शिका बनी हुई है, हमें विनाश के पथ पर नहीं ले जा रही है ?

पीछे जो कुछ भी मैंने आपसे कहा है, वह इन्हीं प्रश्नों का उत्तर है। इसमें सन्देह ही क्या है कि मानवीय पक्ष की अवहेलना कर हम जीवित नहीं रह सकते। परमाणु बम के सहारे चलने वाली आधुनिक सभ्यता स्वयं ही काल-रूप है, जो मानव को खा जाने के लिये किसी भी क्षण अपनी जिह्वा का विस्तार कर सकती है। तब, इस पृथ्वी पर हिरोशिमा ही हिरोशिमा दिखलाई पड़ेंगे। अगर आप हिरोशिमा की पुनरावृत्ति करने के इच्छुक हैं तो आधुनिक सभ्यता के साथ चलते रहिये ; और अगर आप यह चाहते हैं कि मानव जाति का विनाश न हो तो मानवीय पक्ष को पुनर्जीवित कीजिये। विश्वास कीजिये, संसार को विनाश से बचा लेने का यही एक-मात्र इलाज है, और यह हमारी प्राचीन सभ्यता में पूर्ण-रूपेण निहित है। उठिये, मानव-जाति की रक्षा के लिये, अपने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त, पुरातन भारतीय सभ्यता को जीवनदान दीजिये। अपने इस कार्य में सतत लग जाइये। इससे आपका, हमारा और सारे संसार का कल्याण होगा।

दिनांक :
१-८-५८

स्थान :
सिकन्दराबाद (आन्ध्र)

मैले दिल !

सफाइयाँ हो रही हैं जितनी—

दिल हो रहे हैं उतने ही मैले !

गर यही रोशनी रही तो—

अंधेरा छा जायगा जहाँ में !!
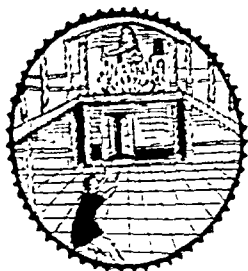
सात :

समाज व धर्म का शत्रु : दहेज

दहेज समाज और धर्म का शत्रु है। इस उभय शत्रु का उन्मूलन करने के लिए युवक-युवतियों को सामूहिक रूप से संगठित होकर क्रान्ति का शंख बजाना पड़ेगा; अन्यथा दहेज जैसी हिंसक कुप्रथाओं की तलवारें लटकती रहेंगी और तुम्हें इन तलवारों के नीचे अपनी गर्दन झुकानी पड़ेगी। क्रान्तदर्शी सन्त का सम्पूर्ण तरुण समाज को आवाहन है कि—
"कुप्रथाओं की होली जला कर समाज के सोचने के तरीके को बदल दो!"
—सं०

धर्मप्राण सभ्य समाज की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि उसमें रहने-सहने वाले सभी मनुष्य सुखपूर्वक जीवन-यापन करें तथा किसी का भी आचरण व व्यवहार दूसरों के लिए पीड़ा व दुःख

का कारण न बने। किन्तु दुर्भाग्यवश सभ्य समाज में अब भी—जबकि असभ्यतापूर्ण जीवन को बहुत पीछे छोड़ आया है—असभ्य एवं बर्बर प्रथाएं आज प्रचलित हैं। दहेज प्रथा भी उन्हीं में से एक है। यह प्रथा कष्टों की जननी एवं सामाजिक सद्भावनाओं व सहयोग की विघातिनी है, क्योंकि बलात् धन अपहरण करने की प्रवृत्ति इसमें अन्तर्निहित हो चुकी है—ऐसी प्रथाओं को यदि दस्यु-प्रवृत्ति भी कहा जाए तो उपयुक्त ही है। यहां समझ लेना आवश्यक है कि दहेज-प्रथा धर्म-सम्मत प्रथा नहीं है। और मेरा विश्वास है कि प्राचीन काल में यह मांस नोच लेने वाली प्रथा नहीं थी। पहले देने वाले अनेक थे, परन्तु लेने वाले उसे स्वीकार नहीं करते थे; जबकि आज आर्थिक विषमता के कारण अधिकांश परिवारों में रोटी-कपड़े का भी संकोच रहता है। इस अवस्था में वर-पक्ष की ओर से दहेज की मांग करना अत्यन्त अन्यायपूर्ण एवं हिंसक प्रथा है। इस प्रथा का शीघ्रातिशीघ्र उन्मूलन करना प्रत्येक धर्मपरायण नागरिक का कर्त्तव्य है।

हमने अब तक के सामाजिक जीवन को पढ़कर देखा है कि दहेज प्रथा सम्पूर्ण समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई है। फलस्वरूप समाज में गृहस्थ-जीवन सुख और शान्ति से रहित होता जा रहा है और दाम्पत्य प्रेम के अभाव में परस्पर मन-मुटाव इसी कुप्रथा के कारण दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ते जा रहे हैं। यही कारण है कि लड़की के जन्म पर घर में शोक-सा मनाया जाता है और लड़के के जन्म पर उत्सव! धन्य है समाज तेरी बर्बरता और धन्य है तेरे पाशविक विधान। इस जगत्-जननी के प्रति इतनी उपेक्षा! इतना तिरस्कार!!!

दहेज की कुप्रथा के कारण न जाने कितने हँसते-खेलते सुखी परिवार धूल में मिल गए। उदाहरणार्थ इस प्रसंग में होने वाली असंख्य घटनाओं में से एक घटना का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

शरद और शकुन्तला दोनों पड़ोसी थे। दोनों का बाल्यकाल से परस्पर स्नेह था। दोनों साथ-साथ खेल-कूदे, पढ़े-लिखे और एक दिन किशोरावस्था को लांघकर विवाह योग्य हो गए।

शकुन्तला के पिता ने शरद के पिता के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा, किन्तु शरद के पिता धन के प्रेमी थे, जन के नहीं। उन्होंने कहा : "शरद की पढ़ाई-लिखाई और पालन-पोषण में जो धन व्यय हुआ है, उतना धन दहेज में देना होगा।"

शकुन्तला के पिता की आर्थिक अवस्था उस समय उतनी अच्छी नहीं थी; फिर भी उन्होंने शरद के पिता को उनकी मुँह माँगी रकम देना स्वीकार कर लिया। परन्तु दुर्भाग्यवश शकुन्तला के पिता का कालान्तर में कारोबार ठप्प हो गया और शकुन्तला की पढ़ाई लिखाई भी छूट गई—जबकि शकुन्तला और शरद भविष्य के सुखमय जीवन के स्वप्नों को मन-ही-मन साकार किया करते थे।

शरद के पिता ने गुप्त रूप से शरद का विवाह-सम्बन्ध कहीं दूसरी जगह पक्का कर दिया ; क्योंकि अब उन्हें शकुन्तला के पिता से मोटी रकम मिलने की आशा नहीं रही थी। अतः ७५ हजार रुपये का दहेज तय कर दूसरी जगह सम्बन्ध पक्का कर दिया। विवाह की तिथि निश्चित हो गई।

इधर शकुन्तला को जब यह भीषण समाचार मिला तो उसने बहुत सोच-विचार कर एक पत्र शरद के नाम लिख भेजा—

"धन के लोभी नर-पिशाच तुम्हारे पिता को हमारा एकात्म सम्बन्ध स्वीकार नहीं है ; अत....!" और स्वयं आत्म-हत्या करने को तत्पर हो गई।

शरद को पत्र मिला और शकुन्तला के घर जाकर उसने देखा कि घर में कोई नहीं है। केवल एक कमरे में धुआँ निकल रहा है, और साथ ही किसी के कराहने की आवाज आ रही है। शकुन्तला के निःस्वार्थ, निश्छल तथा विशुद्ध प्रेम ने शरद के हृदय पर अमिट छाप डाल दी और इस तरह विशुद्ध प्रेम में धन का अभाव बाधक नहीं बन सका। शकुन्तला आग की भेंट हो रही थी, पर साहसी शरद ने धन के लोभी बाप को पीछे छोड़ा और शकुन्तला को अपनी जीवन संगिनी बना ली।

अस्तु, आज समाज में न जाने कितने होनहार नवयुवकों एवं नवयुवतियों के हँसते-खेलते जीवनों को इस दहेज की सत्यानाशी प्रथा ने धूल में मिला दिया। आज समाज में बहुत बड़ी संख्या में दृढ़-संकल्पी साहसी तरुणों की अपेक्षा है।

इस प्रकार दहेज प्रथा अनेक अनर्थों की मूल है। अनीति और अत्याचार इसकी नींव में व्याप्त हैं। यह रोटी देकर माँस नोच लेने और पानी देकर खून लेने वाली प्रथा है। येनकेन प्रकारेण धनोपार्जन करने की पैशाचिक प्रवृत्ति को भी इस कुप्रथा ने प्रोत्साहन दिया है। निर्धन कन्याओं के पिता नियम विरुद्ध साधनों द्वारा धन संग्रह करने में मानवता को भी दाव पर लगा देते हैं।

इस प्रकार धन के रक्त से अपनी प्यास बुझाने का अभ्यासी इन्सान, इन्सान का खून पीते हुए नहीं हिचकता। परन्तु फिर भी वह धर्मात्मा बनना चाहता है ; यह कितना बड़ा धोखा है?

सच्चे प्रेम को चाहने वाली नारी का मूल्यांकन न कर, धन ही जिसके जीवन का आदि, अन्त और मध्य है—वह नारी के हृदय की परख करना नहीं जानता—यह हमें साफ-साफ शब्दों में स्वीकार करना पड़ेगा।

दहेज प्रथा के साथ-ही-साथ आज के नवयुवकों में 'सुन्दर पत्नी' की खोज भी हमारे समाज के लिए एक भारी अभिशाप के रूप में उपस्थित हो गई है। वर का पिता तो कन्या के पिता से दहेज की मोटी रकम ऐंठने की धुन में रहता है! इधर ऐसे योग्य पिता के योग्य सपूत लड़की की खूबसूरती और चटक-मटक को अपनी आंखों से देख, परख लेने की फिक्र करते देखे जाते हैं। पत्नी की योग्यता, उसके सुशील एवं सद्‌गुणों में है—यह न देख, उनका विश्वास इसमें है कि लड़की में फैशन, बनावट-दिखावट एवं हाव-भाव कैसे हैं?

इससे कुलीन कन्याओं एवं उनके माता-पिता का जीवन और भी दुःखमय होता जाता है। वस्तुतः वर-पक्ष की ओर से कन्या-पक्ष को लांछित व अपमानित करने वाली इस प्रथा का भी समाज पर बड़ा विपाक्त प्रभाव पड़ रहा है। दहेज प्रथा के साथ-ही-साथ इस प्रथा को भी समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है—समाज की सुख-शान्ति के लिए। यह चमड़े के और मांस के व्यापार जैसी हिंस्र एवं बर्बर प्रथा है। और यह जिस समाज में है या रहेगी, उस समाज के दाम्पत्य जीवन में सुख-शान्ति दुर्लभ है। इस प्रथा के कुपरिणाम दिखाने के लिए यहां एक प्रासंगिक दृष्टांत का उल्लेख किया जा रहा है—

गुजरात प्रान्त के एक कस्बे की बात है। एक लड़के की सगाई किसी लड़की के साथ हो गई थी। लड़के के मित्रों ने लड़के

को उसके काले रंग के प्रति घृणा का भाव पैदा कर दिया। उसके चेहरे पर चेचक के दाग भी थे। इन मित्रों के लिए लड़के को बहकाने का यह एक अधिक सबल प्रमाण मिल गया। लड़का मन-ही-मन कुढ़ता रहा, किन्तु अपने पिता से यह बात कहने का साहस न हुआ। अन्त में शादी का दिन भी आ पहुँचा, तो लड़के ने डरते-डरते कहा कि मैं पहले लड़की को देखना चाहता हूँ; अन्यथा शादी नहीं करूँगा। पिता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु लड़का जिद् पर अड़ा रहा तो विवश होकर लकड़ी के पिता के सामने बात रखी।

जब यह समाचार लड़की को मिला तो उसने कहा: "पिता जी! मालूम होता है मुझ में क्या गुण और योग्यता-अयोग्यता है, इस ओर उसका ध्यान नहीं है; अपितु वह रूप का व्यापार करना चाहता है। खैर, मैं उसकी इस अविवेक पूर्ण बात को भी मानने को तैयार हूँ। वह आए और मुझे सहर्ष देख जाए।"

यह कहकर उसी समय उस सुशील कन्या ने एक कमरे में जाकर ध्यान लगाया कि हे प्रभु, आज मेरी लाज रहे तथा इस अविवेकी युवक की आँखें खुल जाएँ; ऐसा ही कर। अन्त में वर ने गृह-द्वार में प्रवेश किया। उसने उस सुशील कन्या को प्रार्थना में तल्लीन पाया, तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। उसने गद्-गद् कण्ठ से लड़की से क्षमा प्रार्थना की तथा उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की, किन्तु लड़की का मन उसके व्यवहार से पहले ही खिन्न हो गया था। उसने कहा कि अब यह सम्बन्ध कभी संभव ही नहीं है। मैं चमड़े के व्यापारी, अज्ञानी व्यक्ति के साथ अपना जीवन नहीं बाँधना चाहती, और बारात लौट गई।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण हमारे युवक एवं युवतियों के लिए एक महान् चुनौती हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि युवक और युवतियां जब मिलते हैं, तो परस्पर बड़ी-बड़ी क्रान्ति की बातें करते हैं। परन्तु जब उस पर अमल करने का वक्त आता है, तो पीछे हट जाते हैं और संरक्षकों का सहारा लेते हैं। यदि युवकों और युवतियों को इन प्रथाओं से वस्तुतः घृणा है तथा इन्हें वे अमानवीय मानते हैं, तो उन्हें चाहिए कि इन प्रथाओं के उन्मूलन का व्रत ले लें। यदि वे ऐसा कर सकें, तो मेरी यह ध्रुव धारणा है कि ये हिंस्र प्रथाएं शीघ्र समाप्त हो सकती हैं; किन्तु इसके लिए उनमें अदम्य साहस की अपेक्षा है।

दिनांक :　　　　　　　　　　　　स्थानः
३–६–१९५९　　　　　　　　　　　बैंगलोर

दासियों के मालिक !

रामायण पढ़कर मुझे भारत के नर-नारियों पर श्रद्धा उत्पन्न हुई थी ; मैंने सोचा था यहाँ की प्रत्येक नारी सीता होगी, प्रत्येक पुरुष राम होगा। परन्तु भारत में आकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। अगर यहाँ न आता तो श्रद्धा तो बनी रहती। पर अब वह श्रद्धा भी खतम हो गई ; क्योंकि रामायण में पढ़ी स्वयंवर की सुन्दर परम्परा अब यहाँ नहीं है। अब यहाँ पुरुष के पुरुषत्व को नापने का कोई तरीका ही नहीं रहा। यहाँ न जाने किस आदिम युग की बे-वकूफी से भरी प्रथा चल पड़ी है। इस प्रथा में लड़की वाला अपनी शक्ति से अधिक दहेज देता है। ये बाप धन तो देते हैं, परन्तु नारी के प्रेम का अधिकार इन्होंने छीन लिया। नारी किस से शादी करे ? यह प्रश्न उसका व्यक्तिगत है। किन्तु यहाँ के मां-बाप उसे उसकी इच्छा के बिना ही अपरिचित व्यक्ति के हाथों सौंप देते हैं। ऐसी प्रथा को चलाने वाले ये मां-बाप हैं या दास-दासियों के मालिक ?

—"अमेरिकन पर्यटक की डायरी" से

आठ :

ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि

आज इन्सान पैसे के हाथों बिक गया है! पैसे के लिए वह क्रूर; हिंसक और कृतघ्न बनता जा रहा है! धर्म और ईश्वर की बातों को उसने भुला दिया! वह सोचता है, इससे मुझे सुख मिलेगा! किन्तु सुख फिर भी नहीं प्राप्त होता। धन के लिए वह आकाश को बांहों में बांध लेना चाहता है, परन्तु अन्ततः सन्तोष की छाया में ही वह सुख पाता है। 'ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि' में यही तत्त्व-दर्शन है। —सं०

संसार के महापुरुषों ने मानव की सभी प्रकार की अभिलाषाओं को ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि—इन तीन भागों में विभक्त किया है। धन, वैभव-सम्बन्धी मनुष्य की जितनी भी अभिलाषाएं हैं, वे सब ऋद्धि के अन्तर्गत आती हैं। मनुष्य के

कला-कौशल को उन्होंने सिद्धि के नाम से पुकारा है; और मन को पवित्र करने की इच्छा को उन्होंने शुद्धि का नाम दिया है। इस प्रकार ऋद्धि और सिद्धि के अन्तर्गत उन्होंने मनुष्य की उन अभिलाषाओं को रखा है, जो नितान्त भौतिक हैं और उन्नति की ओर ही संकेत करती हैं। मगर उसकी आध्यात्मिक उन्नति शुद्धि में निहित है। इस शुद्धि की सहायता से ही तो नर नारायण बन जाता है। इसीलिये शुद्धि का मार्ग थोड़ा कठिन है और ऋद्धि-सिद्धि का पथ थोड़ा आसान! यही कारण है जो शुद्धि के मार्ग पर कोई विरला ही आगे बढ़ता है, मगर ऋद्धि-सिद्धि के पथ पर अनेकानेक बढ़ते देखे जाते हैं।

धन और वैभव के लिये मानव क्या नहीं करता है। क्या नहीं कर सकता है? अर्थात्—सब कुछ कर सकता है, और सब कुछ करता भी है। धन-उपार्जन के हेतु वह अपने प्यारे देश का त्याग कर देता है। अपने पिता, सगे भाई और मित्रों से लड़ बैठता है। इसीलिये धन और वैभव की ओर से उसे हटाने के लिये महापुरुष कहते हैं—'मनुष्य! धन तेरे हाथ की बनाई हुई चीज है। यह तेरे हाथ की मिट्टी है। तेरे हाथ की कठपुतली है। तो, तू इसको नचा! इसके संकेत पर तू क्यों नाचता है! इसके पीछे पड़कर तू अपने अमूल्य जीवन को क्यों गँवा रहा है। जब यह तुझ से मोह नहीं करता तो तू क्यों इससे मोह करता है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् इस पृथ्वी पर हो गये हैं, जिनके पास अनेकानेक ऋद्धियाँ मौजूद थीं; मगर जब वे उनके पास से चलीं तो फिर उन्होंने मुड़कर भी उन सम्राटों की ओर न देखा। ऐसी निर्मोही हैं, ये ऋद्धियाँ! फिर, तू इनके पीछे क्यों दौड़ता है!

विश्वास कर, धन न कभी किसी का सगा हुआ है, और न कभी होगा ही !

आप कह सकते हैं कि व्यापार के क्षेत्र में, शरीर को पोषित करने के लिये—इस प्रकार जीवन के कई क्षेत्रों में धन की परम आवश्यकता है। मगर मैं आपकी इस बात से अंशतः सहमत होते हुए भी आपको यह बता देना चाहता हूँ कि जब जीवन के सर्वांग में इसका कुछ भी महत्त्व नहीं तो इसको अपना आका, अपना ईश्वर समझ बैठना मनुष्य की कितनी बड़ी भूल कही जा सकती है। तनिक आप ही सोचिये, जीवन के विकास अथवा आत्मा से परमात्मा बनने के लिये, यह मनुष्य की कितनी सहायता करता है ? वास्तव में, यहाँ सहायता शब्द का बिल्कुल ही गलत प्रयोग हुआ है—फिर कहना तो यूं चाहिए कि जीवन के विकास में यह मनुष्य का हानि ही करता है। उसको उस पथ पर आगे बढ़ने से रोकने के लिये, उसके सम्मुख नये-नये रूपों में प्रगट होता है। फिर, ऐसी इस श्री हीन वस्तु के लिये ऐसी आपा-धापी क्यों, खून-खराबी क्यों, अन्याय और अनीति क्यों ?

आर्थिक क्षेत्र तो आपका अपना बनाया हुआ है—फिर जो वस्तु आपकी अपनी बनाई हुई है, उसको अच्छा-बुरा बनाना भी आपके ही हाथ की बात है। मेरे कहने का मतलब यह है कि आप धन का उपार्जन, न्याय की नीति पर चलकर भी कर सकते हैं और अन्याय और शोषण के द्वारा भी ! आप में दैविक और राक्षसी—दोनों ही वृत्तियां उपस्थित है। फिर, आप धन के उपार्जन में अपनी राक्षसी वृत्ति से ही क्यों काम लेते हैं। आप अगर अपनी राक्षसी वृत्ति को त्याग कर

दैविक वृत्ति से आर्थिक क्षेत्र में आगे बढ़ें, तो आप देखेंगे कि आपके जीवन में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता जा रहा है। क्योंकि जब आप किसी का शोषण नहीं कर रहे हैं, तो आपके चारों ओर शोषितों का क्रन्दन भी नहीं सुनाई पड़ रहा है। और इस तरह आप आर्थिक क्षेत्र की परम शान्ति का रसास्वादन भली प्रकार से कर-पा रहे हैं। आपकी बुद्धि में भी निर्मलता का प्रभात हो रहा है—क्योंकि जैसी कमाई का मनुष्य अन्न भक्षण करता है, वैसी ही उस मनुष्य की बुद्धि बन जाती है। और बुद्धि की यह निर्मलता ही आगे चलकर मनुष्य को जीवन-विकास के क्षेत्र में अग्रसर कर देती है। इसलिये ऋद्धियों को प्राप्त करने की चेष्टा में निमग्न होने पर भी धन को अधिक महत्त्व न देकर जीवन के विकास को ही प्रत्येक क्षण अपने ध्यान में रखिये।

और ठीक यही बात सिद्धियों के सम्बन्ध में भी मैं आपसे कहना चाहूँगा। देखने में आता है, ऋद्धियों के प्रति जैसा आकर्षण मनुष्य का है, ठीक वैसा ही आकर्षण उसका सिद्धियों के प्रति भी है। धन और वैभव के समान किसी सिद्धि को प्राप्त करने के लिये भी मनुष्य कुछ भी करने पर उतारू हो जाता है। अर्द्ध-रात्रि के घोर अंधकार में वह श्मशान में भी चला जाता है। अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करता है। वह सोचता है, कोई ऐसा मंत्र मिल जाये, जिसकी सहायता से वह लोहे को सोना बना ले, किसी को भस्म करना चाहे तो उसे भस्म कर दे........।

और आज मनुष्य ने विज्ञान की सहायता से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। उनमें से कुछ सिद्धियाँ निर्माण की हैं और कुछ

विनाश की। वास्तव में, निर्माण की बहुत कम है, विनाश की अधिकांश! इसीलिये आज का संसार अपने चारों ओर लगी हुई एक ऐसी बीभत्स अग्नि का अनुभव कर रहा है, जो उसे भस्म कर डालने के लिये निरन्तर उसकी ओर बढ़ रही है। अगर समय-रहते संसार ने इस अग्नि को शमन करने का कोई उपाय न खोज निकाला, तो वह उसे जलाकर राख का एक ढेर बना देगी।

हाँ,तो ऋद्धियों के सम्बन्ध में कहते हुए जो बात मैं अभी-अभी कह आया हूँ, वही बात एक बार मैं फिर कह दूँ। विनाश की बुद्धि लेकर आप सिद्धियों के क्षेत्र में मत उतरिये. उसमें भी निर्माण का ही ध्यान रखिये। इसमें आपका भी कल्याण होगा और संसार का भी! मगर मेरा यह कथन आपके हृदय में तभी अपना स्थान बना पायेगा, जब आप अपनी आध्यात्मिक उन्नति को अपना लक्ष्य निर्धारित करने की बात सोचेंगे। जब आप यह ठीक समझेंगे कि आपको अपना मन शुद्ध-बुद्ध बना लेना है। सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय ही कोई कार्य करना है, अन्यथा उस कार्य को करना ही नहीं है। स्वार्थ को अपने हृदय से बिल्कुल निकाल देना है और परमार्थ को उसमें बसाना है। आप इस बात को भली प्रकार समझ लीजिये कि स्वार्थ में जीवन का विकास संभव नहीं है, वह परमार्थ में ही निहित है। भगवान् महावीर कहते हैं—"मनुष्य, अगर तेरे हृदय के भीतर किसी के नाश की भावना छिपी है, किसी दूसरे के अहित का विचार विराजमान है—तो, तेरे हृदय के भीतर एक ऐसा घाव सड़ रहा है, जो एक दिन तुझे सम्पूर्ण को सड़ा देगा। उससे किसी दूसरे का अहित हो सकेगा या नहीं, यह तो पता नहीं; मगर तेरा अहित जरूर होगा, यह सत्य है।"

जैन-शास्त्रों में अट्ठाईस प्रकार की लब्धियों का वर्णन आया है, वे भी अधिकतर सिद्धियों के अन्दर ही मानी गई हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि लब्धियों को जीवन में किसी विशेष महत्त्व का नहीं समझा गया है। महापुरुषों ने मानव-जीवन में शुद्धि को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में एक तत्त्व-वेत्ता का कथन है—मनुष्य इस लोक में बुद्धि, शक्ति और जन्म ; ये तीन वस्तुएँ लेकर आता है। वास्तव में, प्रत्येक मनुष्य को इन तीन वस्तुओं के आधार पर ही अपने जीवन का निर्माण करना होता है। वह करता भी इन तीन वस्तुओं के आधार पर ही है। मगर क्रिया में इतना अन्तर पड़ जाता है कि उठाना चाहता है, वह दीवाल—लेकिन खुद जाता है, कुआ ! वह स्वयं तो उस कुए में गिरता ही है ; साथ ही और भी अनेकों को गिरने के लिए बाध्य कर देता है। जीवन की यही विषमता मानव को निगले जा रही है। यदि इस विषमता से बचना है तो क्रिया की ओर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। तभी जीवन की उन्नति सम्भव है, अन्यथा नहीं। मन, वचन और काया से सही क्रिया करना ही जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करना है। सही क्रिया के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ फिर मनुष्य के लिये वरदान-स्वरूप हो जाती हैं।

लेकिन दुःख की बात यह है कि आज का मानव अपनी उन सिद्धियों को, जो उसने प्राप्त की हैं, अपने और संसार के लिये काल रूप बनाये बैठा है और इसका एकमात्र कारण यही है कि उसकी क्रिया दूषित है। वास्तव में, वह विचारता कुछ है और कहता कुछ है। वह करता कुछ है और उसके मन में कुछ और ही होता है। इसीलिये भगवान् महावीर कहते हैं—"मनुष्य ! तू

तीन रत्न !

भूमंडल पर तीन रत्न हैं,
जल, अन्न, सुभाषित वाणी !
पत्थर के टुकड़ों में करते,
रत्न-कल्पना पामर प्राणी !!

नौ :

उभय मुक्ति !

अध्यात्म नेताओं ने आत्मा की स्वतंत्रता की बात कही, समाज और राष्ट्र के नेताओं ने समाज एवं राष्ट्र की स्वतंत्रता तथा प्रगति की। किन्तु चिन्तनकार मुनिजी का कहना है—ऐहिक सुख के लिए गुलामी की बेड़ियां तोड़ना जरूरी हैं। इसी तरह आत्मानन्द के लिए दुर्गुणों की शृङ्खला भी तोड़ना आवश्यक है। —सं०

आज से ठीक बारह वर्ष पहले यह देश पराधीन था—अंग्रेजों का गुलाम था। पराधीनता एक ऐसा बन्धन है, जो देशवासियों की उन्नति में जबर्दस्त बाधक तत्त्व है। आज तक के इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिल सकता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि अमुक देश में पराधीन रहते हुए भी लोग उन्नति

के शिखर पर जा पहुँचे थे। इसलिए यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि देशोन्नति के लिए देश का स्वतन्त्र होना अत्यन्त आवश्यक है।

जिन्होंने इस सत्य को समझा था—उन लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सरदार पटेल, पं० नेहरू आदि सैकड़ों नेताओं के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। कहा तो ऐसा ही जाता है, परन्तु वास्तविक बात यह है कि नेताओं के बताये हुए मार्ग पर जनता चल पड़ी थी, नेताओं के सन्देश को जनता ने स्वीकार कर लिया था और आजादी की लड़ाई में तन-मन-धन से सहयोग दिया था—इसलिए भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिल पाई ! अन्यथा हजारों या लाखों नेता मिलकर भी कुछ नहीं कर सकते थे। खैर, यह विषय स्वतन्त्र है।

अपने धार्मिक-प्रवचन के प्रारम्भ में ही आज मैंने जो इस राष्ट्रीय चर्चा का जरा-सा उल्लेख कर दिया। इसके दो कारण हैं—पहला तो यह कि आज स्वतन्त्रता दिवस सारे देश में मनाया जा रहा है और दूसरा यह कि आज के विषय की भूमिका इसी चर्चा में छिपी हुई है। कैसे ? इस सम्बन्ध में, मैं आपसे विचार कर रहा हूँ—

जैसे बारह वर्ष पहले, भारतवर्ष अँग्रेजों की गुलामी में जकड़ा हुआ था, उसी प्रकार प्रत्येक संसारी जीव अनादि काल से कर्मों की गुलामी में जकड़ा हुआ है। जैसे गुलामी देश की उन्नति में बाधा डालती है, वैसे ही आत्मा की उन्नति में भी। देश की स्वतन्त्रता के लिए जैसे अँग्रेजों को भगाना जरूरी है, उसी प्रकार आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए कर्मों का नाश करना भी जरूरी है। स्वतन्त्र होने के लिए अथवा अँग्रेजी राज्य को हटाने के लिए

जैसे जनता नेताओं के सन्देशों का पालन करने लगी थी और तभी उसे अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकी; वैसे ही आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिए अथवा कर्मों के राज्य को नेस्तनाबूद करने के लिए प्राणियों को चाहिये कि वे भगवान् महावीर जैसे नेता के सन्देशों का पालन करें।

आइये, अब इस बात पर विचार करें कि कर्मों के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए भगवान् महावीर ने हमें क्या सन्देश दिया है:—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

—उत्तराध्ययन २८। २

ज्ञान दर्शन, चारित्र और तप का अनुष्ठान—ये चारों मिल कर मोक्ष का मार्ग बन जाते हैं—ऐसा सर्वदर्शी जिनेश्वरों का कथन है।

ज्ञान—रत्न चतुष्टय में सम्यग्ज्ञान का स्थान सबसे पहला है; क्योंकि जाने बिना आचरण में शुद्धता नहीं आ सकती। जब तक हम जानें नहीं, तब तक यह कैसे मालूम हो सकता है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या? ज्ञान के अभाव में हम कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य भी समझ लेते हैं।

इसीलिए तो कहा गया है :—

"पढमं नाणं तओ दया।"

पहले ज्ञान और फिर दया! पहले विवेक और फिर क्रिया!! पहले तर्क और फिर श्रद्धा!!!

"अभिगय जीवाजीवे"

सूत्रों में श्रावक का परिचय इसी विशेषण से दिया गया है, जिसका अर्थ है—जीव और अजीव को जानने वाला। जिसने यह नहीं जाना—वह पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष को नहीं जान सकता। इन नौ तत्त्वों को जाने बिना मनुष्य अपना कर्त्तव्य नहीं समझ सकता। इसलिए ज्ञान का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये।

यद्यपि आजकल स्कूल, कॉलेज आदि सैकड़ों-हजारों शिक्षा संस्थाएँ खुली हैं—नए से नया ज्ञान-विज्ञान वहाँ सिखाया जाता है। ऊँचे-ऊँचे विश्वविद्यालय भी ज्ञान के प्रसार का कार्य कर रहे हैं; फिर भी हम देखते हैं कि चारों ओर अशान्ति का ही साम्राज्य फैला हुआ है—सुख और शान्ति कहीं ढूँढे से भी नहीं मिलती। इसका कारण क्या है?

यही कि वह सब कोरा शब्द-ज्ञान है अथवा भौतिक ज्ञान है; उसमें अब तक आध्यात्मिक ज्ञान की सुगन्ध का समावेश नहीं हो पाया है। सारे शिक्षण का सार है—पेट पोषण की कला जान लेना। आत्म-संशोधन की ओर कदम उठाने का कोई लक्ष्य उसमें नहीं है।

प्राचीन प्रबुद्ध विचारकों का मत है कि जो ज्ञान मनुष्य को संयम की ओर नहीं ले जाता, वह वास्तव में ज्ञान नहीं, अज्ञान है!

यों तो ज्ञान जीव का लक्षण है, इसलिए प्रत्येक जीव में ज्ञान होता ही है—तिर्यञ्चों में भी होता है—निगोद के सूक्ष्म जन्तुओं में भी होता है, परन्तु उन सबका ज्ञान संयम का प्रेरक नहीं है। इसलिए वह—"मति-अज्ञान", "श्रुत-अज्ञान" आदि नामों से पहचाना जाता है। मतलब यह है कि उनका ज्ञान भी अज्ञान

का ही एक प्रकार है। आधुनिक शिक्षण को आप इसी का एक दूसरा प्रकार समझ सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है :

"सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।"

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

इस सूत्र से पता चलता है कि प्रत्येक ज्ञान मोक्ष का साधक नहीं बन सकता; सिर्फ वही ज्ञान मोक्ष का साधक बन सकता है, जो सम्यक् हो, ठीक हो और जिससे किसी को अपनी किसी कार्य प्रणाली से दुःख न पहुँचे।

यों तो वैज्ञानिकों की ओर नजर उठाकर देखा जाय तो मालूम होगा कि उनके ज्ञान का कोई पार नहीं है। प्रतिदिन उन का मस्तिष्क विचारों से ठसाठस भरा रहता है। एक-से-एक बढ़ कर नये आविष्कार वे आये दिन करते रहते हैं; परन्तु फिर भी उन्हें शान्ति नहीं मिल पाई है। संहारक शस्त्रास्त्रों के निर्माण और रक्षण का शान्ति के साथ कैसा समन्वय? दुनिया को नष्ट करने के साधनों का सुख से क्या सम्बन्ध? दूसरों के शोषण में आत्मा का पोषण कहाँ? स्वार्थ के संघर्ष में वास्तविक सन्तोष कहाँ?

ये सारी असंगतियाँ बतला रही हैं कि ज्ञान कितना भी ऊँचा हो; परन्तु जब तक वह सम्यक् नहीं होता, तब तक वह अज्ञान ही है—दुःख वर्धक ही है।

अब हमें यह सोचना है कि ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है? मेरे खयाल से श्रवण, अनुकरण और मनन—ये तीन ही कारण हैं, ज्ञान की प्राप्ति के!

बच्चा सुनने का ही काम सबसे पहले करता है, और सुन-सुन कर ही सीखता है। भगवान् ने भी कहा है :

> *"सोच्चा जाणइ कल्लाणं,*
> *सोच्चा जाणइ पावगं ॥"*
>
> —दशवैकालिक ४ । ११

सुनकर ही जीव कल्याण के और पाप के मार्ग को जानता है। कल्याण का मार्ग उपादेय है और पाप का मार्ग त्याज्य है—यह न भूलना चाहिये। जो कुछ हम सुनते हैं, वह सारा अनुकरणीय नहीं होता। इसीलिये भगवान् ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में फरमाया है :

> *"उभयंपि जाणइ सोच्चा,*
> *जं सेयं तं समायरे ।"*
>
> —दशवैकालिक ४ । ११

दोनों तरफ की बात सुनकर जान लीजिये, परन्तु जो हितकारी है—आचरण उसी का कीजिये।

सुनते तो सभी हैं, परन्तु क्या सुनें! और क्या न सुनें—इसका विवेक बहुत कम लोगों के पास होता है। सुनने को तो लोग सैंकड़ों—हजारों रुपये खर्च करके भी सुनते हैं ; परन्तु उस श्रवण से जीवन का नाश होता है—पतन होता है। भला ऐसे श्रवण से क्या लाभ ? साँप भी तो पुंगी या बन्शी की ध्वनि सुनता है और मस्त हो कर झूम उठता है, परन्तु परिणाम क्या होता है ? बन्धन या मौत ?

यही बात मनुष्य के हित के लिये भी है। वह ग्रामोफोन में फिल्मी-गीत, रेडियो में राग-वर्द्धक संगीत तथा नाना प्रकार के

कर्णप्रिय वाद्यों की रागिनी सुनता है। इस प्रकार वह अपना अमूल्य समय और धन ही क्या, जीवन भी खुशी-खुशी बर्बाद करता है। यह कैसा अज्ञान है ! कैसा अविवेक है !! कैसा व्यामोह है !!!

खूब याद रखिये ! जिस श्रवण से आपको संयम की, सेवा की और त्याग की प्रेरणा न मिले ; वह सारा श्रवण ज्ञान-वर्द्धक नहीं—अज्ञान वर्द्धक है। श्रवणेन्द्रिय के रस का भले ही उससे पोषण होता हो ; परन्तु जीवन का तो शोषण ही होता है !

दूसरा कारण है—अनुकरण। मनुष्य अपनी आँखों से जो जो दृश्य देखता, जिन-जिन व्यक्तियों की संगति में रहता है—उसका जीवन भी उसी ढांचे में ढलने लगता है। आप ६-७ दिन तक वेश्यागामियों की अथवा शराबियों की टोली में रह लीजिये और फिर देखिये कि आप अपने आपको एक वेश्यागामी या शराबी के ही रूप में पाते हैं या नहीं।

इसके विपरीत यदि आप सज्जनों की, साधुओं की, और विद्वानों की संगति में रहेंगे तो यह निश्चित है कि आपके जीवन में भी धीरे-धीरे सौजन्यता, साधुता और विद्वत्ता का प्रवेश होता जायगा।

मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है। अनुकरण से वह बहुत कुछ सीखता रहता है ; परन्तु दुर्भाग्य यह है कि आज उसका अनुकरण उल्टी दिशा में हो रहा है। कौन व्यापारी वस्तुओं में किस ढंग से मिलावट करता है—ग्राहकों को किस प्रकार ठगता है—नकली माल को असली बताने के लिये किस प्रकार झूठ बोलता है ! आदि बातें अनुकरणीय बनी हुई हैं, जिनसे मुक्त हुए बिना कोई भी मनुष्य धर्मात्मा नहीं बन सकता।

धर्मात्मा तो अयवन्ताकुमार बने थे, जिन्होंने ८।। वर्ष की छोटी-सी उम्र में पहले गौतम स्वामी के और फिर भगवान्

महावीर के दर्शन किये। इससे उसी क्षण उनका जीवन बदल गया और वे सोचने लगे कि जो शान्ति मुझे भगवान् के सम्पर्क में मिल रही है, वह आज तक किसी अन्य व्यक्ति के सम्पर्क में नहीं मिली। परिणामस्वरूप अपने माता-पिता को समझा कर वे साधु बन गये और केवल-ज्ञान प्राप्त करके पाँचवीं गति (मोक्ष) में जा पहुँचे।

कहने का आशय यह है कि हमें अनुकरण केवल उन्हीं का करना चाहिये, जो शान्त हैं—दान्त हैं—तपस्वी हैं—महापुरुष हैं। ऐसे अनुकरण से ही हमें उपयोगी ज्ञान मिल सकेगा, जिससे जीवन का विकास हो।

ज्ञान प्राप्ति का तीसरा कारण है—मनन! जो चीज जिस रूप में हम देखते हैं, उसका कुछ-न-कुछ असर हमारे हृदय पर पड़ता ही है। उस असर पर हमें मनन करना चाहिये—चिन्तन करना चाहिये। मानव जीवन की बड़ी-से-बड़ी गुत्थियों को सुलझाने का यदि कोई उपाय मालूम हो सकता है तो वह केवल मनन की सहायता से ही। आज तक जो बड़े-बड़े शास्त्र लिखे गये हैं, वे सब प्रबुद्ध विचारकों के चिन्तन और मनन के ही फल हैं।

दूव कितनी साधारण चीज है! सैंकड़ों-हजारों बार उसे आपने देखा होगा; परन्तु मनन न होने के कारण उससे आपको कोई नया विचार नहीं सूझा। सन्त-महात्माओं की दृष्टि बड़ी व्यापक होती है, इसलिए वे साधारण से साधारण वस्तु या दृश्य में से भी व्यापक सत्य खोज निकालते हैं। सिक्खों के धर्म-गुरु नानक देव ने जब दूव देखी तो सहज ही उनके मुँह से यह उद्गार निकल पड़ा:

नानक नन्हें व्है रहो, जैसे नन्ही दूब ।
और घास जल जायगी, दूब खूब की खूब ॥

इस प्रकार दूब में उन्होंने विनय-शीलता का तत्त्व दिखा दिया और मनन करके स्वयं तो देख ही लिया ।

यदि हम भी प्रत्येक वस्तु या दृश्य को सूक्ष्म दृष्टि से देख कर उस पर मनन करने की आदत बना लें तो सहज ही हमारे ज्ञान की वृद्धि हो सकती है ।

इस प्रकार श्रवण, अनुकरण और मनन के द्वारा हमें अधिक से अधिक सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना है ।

सम्यग् दर्शन—भगवान् महावीर ने ज्ञान के बाद जिस दूसरे तत्त्व पर जोर दिया है, वह है—दर्शन !

दर्शन का अर्थ है—विश्वास ! जिन तत्त्वों को हमने जान लिया, उन पर हमारा विश्वास होना चाहिए । एक कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी यदि डाक्टर है तो उसे अपने इलाज करने के तरीकों पर पूरा विश्वास होता है । एक नास्तिक भी यदि वैज्ञानिक है तो उसे अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर विश्वास रखना ही पड़ेगा ; अन्यथा वह अपने एक भी आविष्कार में सफल नहीं हो सकता ।

इस प्रकार जब नास्तिकों में भी विश्वास की आवश्यकता सिद्ध होती है, तब आस्तिकों की तो बात ही क्या ?

विश्वास तो प्रत्येक मनुष्य में है ; परन्तु जिस पर होना चाहिये, उस पर नहीं है और जिस पर न होना चाहिये, उस पर है । सभी जानते हैं कि लक्ष्मी चंचल है, आज का करोड़पति कल कंगाल हो सकता है । फिर भी मनुष्य पैसा प्राप्त करने के लिये दिन-

रात खटपट करता है। क्यों? इसलिए कि उसे यह विश्वास है कि मुझे पैसों से ही सुख मिलने वाला है। यद्यपि मनुष्य यह बात भी अच्छी तरह जानता है कि आज जो लखपति और करोड़पति सेठ कहलाते हैं, उनके जीवन में भी शान्ति नहीं है—फिर भी वह धन से शान्ति पाने की आशा तो रखता ही है। इस प्रकार जो अविश्वासनीय है, उस पर विश्वास करता है।

दूसरी ओर धर्मात्माओं के सुखी जीवन के बारे में वह खूब जानता है। फिर भी न जाने क्यों, उसे धर्म पर अविश्वास जमा हुआ है और वह समझता है कि मुझे धर्म से सुख नहीं मिल सकता। इस प्रकार दिखावे के लिये भले ही मनुष्य अमुक-अमुक धार्मिक क्रियाएँ करता रहे; किन्तु अन्तःकरण में धर्म के प्रति उसका विश्वास बिल्कुल नहीं होता। एक संस्कृतज्ञ कवि ने कहा है :

> *"सकलाऽपि कला कलावताम्,*
> *विकला धर्मकलां विना खलु!*
> *सकले नयने वृथा यथा,*
> *तनुभाजां हि कनीनिकां विना!!"*
>
> —सुभाषित रत्नभाण्डागार

कलाकारों की सारी कलाएँ धर्म-कला के बिना व्यर्थ हैं। आँख में काली कीकी न हो तो प्राणियों की सारी आँखें भी व्यर्थ हैं। सारे शास्त्र पढ़ लिये, पर यदि जीवन शुद्धि का शास्त्र नहीं पढ़ा तो फिर क्या पढ़ा? जीवन शुद्धि का शास्त्र पढ़ भी लिया, पर यदि हृदय में उसके प्रति आदर नहीं है—विश्वास नहीं है तो फिर उससे लाभ ही क्या होने वाला है?

कहने का आशय यह है कि जो सुख-शान्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें धर्म पर अटल श्रद्धा होनी चाहिये—महापुरुषों के वचनों पर अटूट विश्वास होना चाहिये। इसी को *सम्यग्-दर्शन* कहते हैं। जो सम्यक् है—सत्य है—हितकर है, उस पर अटूट विश्वास रखना—मोक्षार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है; ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है।

सम्यक् चारित्र—जिन बातों को हमने हितकर समझा है और जिन पर हमें अन्तःकरण से विश्वास है, उन्हीं बातों को जीवन में उतारना चारित्र है; जो मोक्ष के लिए तीसरा अनिवार्य कारण है।

ज्ञान और दर्शन भी इसी चारित्र के लिये हैं। क्योंकि बिना विश्वास के जो आचरण होता है, वह कोरा आडम्बर है—दिखावा है, उससे कोई लाभ नहीं हो सकता। साथ ही बिना ज्ञान के जो विश्वास होता है, वह अन्ध-विश्वास है—मिथ्यात्व है। इसलिए ज्ञान के बाद विश्वास, और विश्वास के बाद आचरण होना चाहिए। ऐसा आचरण ही मनुष्य का उद्धार कर सकता है—जीवन को ऊँचा उठा सकता है—हृदय को पवित्र बना सकता है।

साधारण मनुष्य का यह विश्वास है कि सत्य बोलना कठिन है और झूठ बोलना सरल; परन्तु बात इससे उल्टी है। कल्पना कीजिए—एक व्यापारी इन्कम टैक्स की चोरी करता है—बहियों में कम-ज्यादा लिखता है—परन्तु पोल खुलने पर वकीलों की मुट्ठी गर्म करके अपना उल्लू सीधा करने को भी तैयार है। फिर भी यदि उस व्यापारी के यहाँ जमा-खर्च की जाँच करने वाले सरकारी कर्मचारी ने पैर रख दिया तो वह घबराहट में पड़े बिना नहीं रहेगा। ऊपर-ऊपर से वह भले ही मुस्कराता रहे; किन्तु

अन्दर से उसका हृदय तो धड़कता ही रहेगा—पद-पद पर उसे यह आशंका बनी रहगी कि "मैं कहीं पकड़ा न जाऊँ!" जब तक वह सरकारी कर्मचारी वहीखातों की जांच करके दूकान से चला न जाय, जब तक उस झूठे व्यापारी को क्षण-भर के लिए भी चैन कहां ? यह है, झूठ का परिणाम !

कल्पना कीजिए ; एक दूसरा व्यापारी है, जो पूरा ईमानदार है और कभी झूठ नहीं बोलता। वहीखाते भी साफ रखता है—कहीं कोई गड़बड़ नहीं। ऐसे व्यापारी की दूकान पर कोई जांच करने वाला सरकारी कर्मचारी दिन में दस बार भी आ जाय तो वह जाँच के लिये अपने वहीखाते खुशी-खुशी उसे दे देगा; क्योंकि वह झूठ से सदा दूर रहता रहा है—छल-कपट नहीं करता ; इसलिए उसे अपने पकड़े जाने का जरा भी डर नहीं है। फिर भला वह क्यों घबराने लगा ? यह है, उसकी सचाई का फल !

कहने का आशय यह है कि जिस असत्य को हमने सरल समझ रखा है, वह कठिन है—अशान्ति पैदा करने वाला है ; और जिस सत्य को हमने कठिन समझ रखा है, वह सरल है—सीधा है और सुखदायक भी।

इसी प्रकार भोग त्याज्य हैं, क्योंकि वे रोग-वर्द्धक हैं ; और उपवास उपादेय हैं, क्योंकि वह स्वास्थ्य प्रदायक हैं। इस सत्य को वही भली-भाँति समझ सकता है, जिसने उसवास किया हो; अर्थात् समझे हुए सत्य को जीवन में उतारा हो—आचरण किया हो।

आचरण का महत्त्व इस बात से भी समझा जाता है कि यदि एक व्यक्ति पूर्ण सदाचारी हो तो वह सैंकड़ों को सदाचार की प्रेरणा देने वाला बन जाता है ; और अगर कोई दुराचारी हो तो

वह सैंकड़ों को अपने ही जैसा दुराचारी बनाकर उनका जीवन बर्बाद कर जाता है।

भगवान् महावीर पूर्ण सदाचारी थे, अतः उनके जीवन को आदर्श मानकर चौदह हजार पुरुषों और छत्तीस हजार नारियों ने भी अपना जीवन पूर्ण सदाचारी बना लिया था।

आचरण-निष्ठ व्यक्ति का दूसरों के हृदय पर कैसा असर होता है? यह बात भली-भाँति समझने के लिए बंगाल में घटी हुई एक सच्ची घटना सुना दूँ—यह उचित ही है!

करोड़पति सेठ मल्लिक अपनी सत्यवादिता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वे कलकत्ते में ढाके की मलमल का व्यापार करते थे। लाखों रुपए की मलमल वे जहाज के द्वारा लाते और ले जाते थे।

एक बार वे अपने जहाज का माल बेच कर लाखों रुपए की थैलियाँ लिये हुए समुद्री मार्ग से कलकत्ते की तरफ लौट रहे थे कि राह में समुद्री डाकुओं के एक गिरोह ने उन्हें घेर लिया। हाथ में पिस्तौल लेकर डाकुओं का सरदार सेठ जी के समीप आया और पूछने लगा कि आपके पास कुल कितने रुपये हैं?

सेठ जी ने सोचा कि सत्य को ही मुझे बचाना है; धन को बचाना व्यर्थ है; धन आज है तो कल न रहेगा। यदि मैं मर गया तो सारा धन यहीं छूट जायगा, वह साथ नहीं जायगा। परन्तु मैंने यदि अपने सत्य की रक्षा की तो वह सदा मेरे साथ रहेगा—मरने पर वह परलोक में भी अच्छी गति दिलवायेगा। तब क्यों न सत्य को ही बचाऊँ?

हाँ, तो डाकुओं के सरदार का प्रश्न सुनते ही उस ईमानदार सेठ ने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया—"मेरे पास तीन लाख रुपये हैं कुल। वे पड़ी हैं—थैलियाँ!"

डाकुओं ने भी सेठ के बारे में पहले सुन रखा था कि वे कभी झूठ नहीं बोलते। इसलिए सेठ की बात सुनते ही सरदार का इशारा पाकर उन्होंने तीन लाख रुपयों की सारी थैलियाँ अपने जहाज में भर लीं और फिर सभी डाकू जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में रवाना होने लगे। डाकुओं का जहाज कुछ ही दूर गया होगा कि इधर सेठ जी की नजर अपने हाथ पर पड़ी।

उन्होंने देखा कि हाथ की एक अंगुली में एक अँगूठी है, जो दस हजार रुपये के मूल्य की है। मन में सोचा कि डाकुओं को उसके प्रश्न का उत्तर देते समय मेरा ख्याल इस अँगूठी पर नहीं जा पाया था, अन्यथा मैं उनसे कहता कि मेरे पास कुल तीन लाख दस हजार रुपये हैं। खैर, भूल से ही सही; पर मुँह से जब एक बार असत्य निकल गया है, तो मुझे उसका प्रायश्चित्त भी कर ही लेना चाहिये। आखिर वह जोर-जोर से लुटेरों को आवाज देने लगे। सेठ जी की आवाज सुनकर लुटेरे भी लौट आये। बोले :—

"क्या बात है सेठ जी! हमें आपने फिर से क्यों पुकारा?"

सेठ जी ने मुस्कराते हुए कहा कहा—"भाइयो! अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए मैंने तुम्हें पुकारा है।"

"पाप का?" डाकुओं ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—"आपने कौन सा पाप किया है सेठ जी?"

"झूठ बोलने का !" सेठ जी ने अपना हृदय साफ करते हुए कहा—"अच्छा हुआ, जो आप लोगों तक मेरी आवाज पहुँच गई और आप लौट आये ; अन्यथा मेरी अँगुली में रही हुई यह अँगूठी मुझे सदा चुभती रहती। इसका मूल्य आज दस हजार से कम नहीं है। कुल सम्पत्ति बताते समय मेरा ध्यान इस अंगूठी की तरफ नहीं जा पाया था, इसलिए भूल से मैं झूठ बोल गया। खैर, अब आप इस अँगूठी को ले जाइये। मुझे धन से नहीं, सत्य से प्यार है।"

सेठ जी को यह बात सुनते ही डाकुओं के सरदार का पत्थर जैसा कठोर हृदय भी पिघल कर पानी-पानी हो गया। वह सेठ जी के चरणों में गिर पड़ा और अपनी आँखों के जल से उनके चरण धोने लगा। दूसरे डाकू भी सरदार का ही अनुकरण करने लगे।

सरदार ने कहा :—"सेठ जी ! आप के सत्यनिष्ठ जीवन का हमारे हृदय में काफी गहरा असर हुआ है। आप जैसे देव तुल्य पुरुष को पिस्तौल दिखाने का जो हमने पाप किया है, उसके लिए हम आप से क्षमा-याचना करते हैं। यह अँगूठी तो अब हम लेंगे ही क्या ? परन्तु जो आपके तीन लाख रुपये हम अभी-अभी ले गये थे, उन्हें भी आदर-पूर्वक लौटा रहे हैं। इतना ही नहीं ; हमारे घर अब तक जो कुछ इधर-उधर की लूट से पैदा किया हुआ धन है, उसे भी हम गरीबों को बाँट देंगे और भविष्य में कभी लूट न करेंगे। अपने ही पसीने की कमाई खायेंगे। कृपा करके हमें ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि हम अपनी इस प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन कर सकें।"

सेठ जी ने कहा—"मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हो रही है कि मेरे जीवन से आपकी आत्माओं में कुछ आध्यात्मिक प्रकाश आ पाया। आज से अपका जीवन भी सत्यनिष्ठ बन गया है; इसलिए धार्मिक नाते से आप और मैं भाई-भाई बन गये है। तीन लाख रुपये तो भले ही आप लौटा दीजिये, परन्तु यह अँगूठी मै आपको खुशी से देता हूँ। आशा है, इसे एक भाई की भेंट समझ कर आप अवश्य स्वीकार करेंगे।"

आखिर अँगूठी की भेंट लेकर और तीन लाख रुपयों की थैलियाँ लौटा कर डाकू अपने जहाज में बैठ गये। सेठ जी भी कलकत्ते की ओर रवाना हुए।

यह है—सदाचार का प्रभाव! इसीलिए भगवान् ने मोक्ष प्राप्ति के लिए सदाचार के पालन पर; अर्थात्—सम्यक् चारित्र पर अधिक बल दिया है।

सम्यक् तप—मोक्ष-प्राप्ति के लिए चौथा मार्ग है—तप! तप इन्द्रियों को वश में रखने का एक अभ्यास है। आयम्बिल में रुखा-सूखा अन्न खाने का जब अभ्यास हो जाता है, तब परिस्थितिवश कभी वैसा खाने का प्रसंग आ भी जाय तो मन में हिचकिचाहट आदि हीनता न होगी। उपवास करने वालों को भूख-प्यास सहने की आदत हो जाती है; इसलिए कहीं गये और वहाँ खाने-पीने को न मिला तो भी घबराहट न होगी। घबराहट से ही मनुष्य अविवेकी बनकर अधर्म करने के लिए विवश होता है। जिस आदमी को अन्न न मिला हो, और जिसे भूख सहने की आदत भी न हो; वह तो अधर्म करेगा ही—पेट की आग बुझाने के लिए पाप भी करेगा—चोरी करेगा और न जाने क्या-क्या अनर्थ कर बैठेगा! कहा भी है:

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ।"

अर्थात्—क्षुधा पीड़ित कौन-सा पाप नहीं करता ?

तो तपस्या से इन्द्रियाँ वश में रहती हैं—इसलिए संयम का अभ्यासी होता जाता है ।

शास्त्रकारों ने तपस्या के बारह भेद बताये हैं— छह आभ्यन्तर हैं ; और छह बाह्य। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप हैं। अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग, काय-क्लेश, संलीनता—ये बाह्य तप हैं। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप का महत्त्व अधिक है ; बल्कि कहना चाहिये कि बाह्य तप आभ्यन्तर तप के ही लिए हैं।

संयम और तप—ये दो धर्म ही ऐसे हैं, जिनसे आत्मा पवित्र होती है । शास्त्रों में बार बार यह पाठ आता है :

'संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।"

संक्षेप में यही कहना है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों का अनुष्ठान करने वाला ही इस संसार के दुःखों से मुक्त हो सकता है। और यह भी श्रमण भगवान् महावीर के ही शब्दों में सुन लीजिये—

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेणं तु सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥"

— उत्तराध्ययन २८ । ३५

ज्ञान से मनुष्य भावों को जान लेता है। दर्शन से उन जाने हुए भावों पर श्रद्धा करता है। चारित्र से उन्हें अपना लेता है और तपस्या से पवित्र बन जाता है ।

यदि आप कर्मों की गुलामी से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते है—स्वतन्त्र होना चाहते हैं तो इन चार सन्देशों के अनुसार अपने जीवन को ढालिये। ये चार सन्देश ही मानव को उभय-मुक्ति दिला सकते हैं। कुपथ से बचना—लौकिक व पारलौकिक दोनों ही दृष्टि से आवश्यक है। अतः कथित चारों मार्ग-दर्शकों की सलाह पद-पद पर लेते रहिए।

दिनांक : १५-८-५६

स्थान : बेंगलोर

दस :
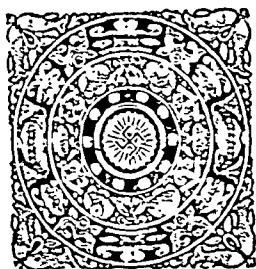
भारतीय संस्कृति

प्रत्येक संस्कृति के कुछ केन्द्रिय विचार या कुछ मूलाधार होते हैं, मूलाधार के आधार पर ही संस्कृतियां जीवित रहती हैं। जिस संस्कृति के केन्द्रिय विचार जितने निर्बल होते हैं, वह संस्कृति उतनी ही जल्दी मर जाती है। सस्कृति पर कुछ कहना विशाल अध्ययन की अपेक्षा रखता है। वैदिक और जैन संस्कृति पर व्याख्याता के गंभीर अध्ययन और विश्लेषण की झलक आप यहां पायेंगे। —सं०

संस्कृति मनुष्य का एक गुण है और सभ्यता मनुष्य जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली है। जन्म-जात संस्कार के रूप में संस्कृति को मनुष्य जन्म से ही अपने साथ लाता है; मगर सभ्यता को वह समाज में रहकर ही ग्रहण करता है। मनुष्य में प्रथम संस्कृति फलती-फूलती है, फिर सभ्यता उसके अनुरूप अपना रूप संवा-

रती है। और दोनों के प्रसार का यह कार्य कुछ ऐसे ढंग से चलता रहता है कि सहसा यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि संस्कृति और सभ्यता दो भिन्न वस्तुएँ हैं। मगर भिन्नता इन दोनों के बीच विद्यमान है, यह एक सत्य है। ऊपरी तौर से देखने पर यह भिन्नता प्रकट नहीं हो पाती, यह दूसरी बात है—क्योंकि ये दोनों ही एक-दूसरे पर बराबर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। लेकिन इस बात के बहाने दोनों को एक करके देखना—यह भ्रम-मूलक है।

जब हम संस्कृति की बातें करते हैं, तो कहना चाहिये कि हम मनुष्य के एक जन्म-जात गुण की बात कर रहे हैं। और मनुष्य के इस गुण के सम्बन्ध में सोचते हुए हमें इस गुण की प्रकृति और विकृति पर भी अवश्य ध्यान देना होगा। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, ईर्ष्या, मोह, राग द्वेष आदि—ये सब प्रकृति के गुण हैं। अपने इन प्रकृति-प्रदत्त गुणों को अगर मनुष्य असीमित बना देता है तो उसमें विकृति के लक्षण प्रगट हो जाते हैं, और तब मानव—दानव बन जाता है। और मगर इन गुणों को वह सीमित अवस्था में भोगता रहता है तो वह मानव बना रहकर ही जीवन यापन किया करता है। क्योंकि आध्यात्मिकता की दृष्टि से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार हैं, इसलिये संस्कृति इन पर रोक लगाती है। यही कारण है कि जो आध्यात्मिकता के क्षेत्र में पहुँचा हुआ मानव यह प्रयत्न करता है कि वह क्रोध के वशीभूत न हो; बल्कि क्रोध उसके वश हो। तो वह लोभ, मोह, वासना आदि का गुलाम न बनें।

इसके विपरीत ये उसके चाकर हों। यही संस्कृति की महत्ता या उसका बड़प्पन है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति

हमारे जीवन को संयमी वनाती है। वह सभ्यता से बहुत ही सूक्ष्म वस्तु है, इसलिए प्रगट रूप में उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं है ; वल्कि वह लक्षणों से ही जानी जाती है। दर-असल संस्कृति, सभ्यता में इस प्रकार घुली-मिली रहती है, जिस प्रकार तिल में तेल अथवा दूध में मिश्री ! संस्कृति अखण्ड है, मगर सभ्यता कभी भी सौ-टूक होकर विखर सकती है। उसका साधन जल्दी ही जुट जाता है और जल्दी ही मिट भी जाता है। मगर संस्कृति एक या दो दिनों में वन कर तैयार नहीं हो जाती ; वह वनकर तैयार होने में कई शताब्दियाँ ले लेती है। वास्तव में अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, उठते-बैठते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते हैं, उनके इन्हीं कार्यों से उनकी संस्कृति का जन्म होता है। जन्म ग्रहण करते ही फिर यह उनके रक्त के कण-कण में अपना स्थायी निवास वना लेती है और जन्म-जात गुण के रूप में अपने लक्षणों के द्वारा प्रगट होती रहती है।

संस्कृति का विकास आदान-प्रदान से भी होता है। जब दो देशों के लोग व्यापार, मित्रता, आदि से परस्पर एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं तो एक-दूसरे की संस्कृति से भी वे प्रभावित होते हैं। इस प्रकार एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से कुछ लेती, और उसको अपना कुछ देती रहती है। किन्हीं भी दो संस्कृतियों का आदान-प्रदान का यह कार्य कुछ इस ढंग से चला करता है कि सहसा कुछ ज्ञात नहीं हो पाता ; मगर वहुत समय वीतने पर यह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है। और यह ठीक ही है, क्योंकि उसी सरोवर का जल स्वच्छ और निर्मल रह पाता है, जिसमें जल का आवागमन वरावर वना रहता है।

वास्तव में दो संस्कृतियों के बीच चलने वाला यह आदान-प्रदान का कार्य जल के आवागमन के समान ही है, जो दोनों संस्कृतियों को स्वच्छ व निर्मल बनाये रखता है।

आज सारे संसार में अंग्रेजी भाषा का बोलबाला है। इस भाषा में लिखे व छपे ग्रन्थों की सर्वाधिक बिक्री है। इसलिये यह आवश्यक ही प्रतीत होता है कि संस्कृति के लिये अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले शब्द 'कलचर' (Culture) को भी हम समझ लें। इस शब्द की उत्पत्ति सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी में मानी जाती है और सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग खराब अर्थों में किया जाता रहा है। हिन्दी भाषा में भी ऐसे कुछ शब्द हैं, जैसे—घाघ, गुरू-घंटाल आदि! आप सभी इन शब्दों तथा इनके अर्थों एवं इनके दोनों प्रकार के प्रयोगों से भली-भाँति परिचित हैं। यही बात बहुत दिन तक 'कलचर' शब्द के साथ भी रही थी, कुछ-कुछ अब भी है। मगर ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में जो अर्थ इस शब्द के दिये हैं, वे हैं—(१) मनस् रुचि और आचार की संशोधक क्रिया, (२) मनस् रुचि और आचार के संशोधन के समय की अवस्था, (३) सभ्यता और बुद्धि का अंग, (४) विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका द्योतक। एक अन्य अंग्रेज विचारक मैथ्यू आरनॉल्ड ने 'कलचर' शब्द की व्याख्या करते हुए ये चार बातें कही हैं—(१) अन्तःकरण की मानवता जो पाशविकता से भिन्न है, (२) सतत विकासशीलता, (३) अखिल मानव-समाज की सामूहिक उत्क्रांति, जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा भी हो सकती है, (४) मानव की समस्त शक्तियों का विस्तार!

एक अन्य शब्द-कोष में संस्कृति का अर्थ बताया गया है—सजाना, सँवारना, सु-शिक्षित करना, पवित्र करना, मांजना

आदि ! इस शब्द के और भी अनेक अर्थ दिये गये हैं, जो इस धातु को संस्कृति की अपेक्षा संस्कारों की ओर अधिक खींच लेते हैं, मगर सब का निष्कर्ष एक ही है और वह है कि संस्कृति शब्द का प्रयोग जीवन की भूमिकाओं के लिये ही अधिकांश में हुआ है। मानव-जीवन का व्यापार प्रायः तन, मन, धन और जन तक ही सीमित है। अत; ज्ञान, भावना, सदाचार स्वास्थ्य, समृद्धि और सेवा (कुटुम्ब-सेवा, समाज-सेवा, लोक-सेवा) विषयक अन्तःकरण की परिमार्जित स्थिति का सामूहिक रूप में नाम है—संस्कृति ! और सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में संस्कृति की इसी भावना को संजोया गया है।

इस अखिल विश्व में प्रचलित संस्कृतियाँ मुख्यतया छः प्रकार की हैं—(१) आर्य संस्कृति (भारत), (२) मंगोल संस्कृति (चीन, जापान), (३) अनार्य संस्कृति, (अफ्रीका तथा दक्षिणी द्वीप-समूह), (४) ईसाई संस्कृति (योरोप तथा अमेरिका), (५) इस्लामी संस्कृति (अरब व फारस), (६) कम्युनिस्ट संस्कृति (रूस)। इस प्रकार हम देखते हैं कि देशज और धर्मज संस्कृतियाँ हमारे बीच विद्यमान हैं, जो सहसा पनप गई हैं। अभी इनका जीवन-काल बहुत छोटा है और कह नहीं सकते, इनका भविष्य क्या है ?

ऊपर गिनाई गई संस्कृतियों में सबसे पुरानी भारतीय संस्कृति है। इसका मूलाधार आस्तिकता ; अर्थात्—ईश्वर में अखण्ड विश्वास है। यह सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, प्रेम, त्याग, संयम, सेवा, अंतरंग और बाह्य की शुद्धि, आदि गुणों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ती है। मनुष्य को व्यक्तिगत, समाजगत, राष्ट्रगत ; आदि सभी रूपों में उच्चतम की ओर ले जाने का

सफल प्रयत्न करती है। मानव-मात्र की एक ही अभिलाषा है—आनन्द प्राप्त करने की ! और हमारी यह संस्कृति उसकी इस महती इच्छा की पूर्ति में अपना अनुपम योग प्रदान करती है ! क्योंकि भौतिक वस्तुओं में सच्चे आनन्द का अभाव है, इसलिए भारतीय संस्कृति इन वस्तुओं की ओर मनुष्य को उन्मुख न कर उसे ईश्वर की ओर जाने का मार्ग इंगित करती है। इस संस्कृति का विशाल प्रासाद आध्यात्मिकता की ठोस नींव पर खड़ा है, जो अनेक संस्कृतियों के धक्के सहकर भी अटल और अडिग है। कह सकते हैं, अन्य प्रचलित संस्कृतियों की बनिस्बत हमारी संस्कृति बहुत ही पवित्र और शुद्ध है।

इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) यह मानव-मात्र के लिये सच्चे आनन्द का मार्ग खोलती है, (२) दूसरों के प्रति सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करना सिखाती है, (३) इसकी दृष्टि में व्यक्तिगत सुख का कोई मूल्य नहीं है, (४) काम, क्रोध, लोभ, उद्वेग आदि से मनुष्य को बचाकर उसके जीवन को संयमी बनाने की चेष्टा करती है, (५) विश्व-कल्याण की भावना इसके अणु-अणु में निहित है। संस्कृति का प्रत्येक नियम पूर्णतः पालन करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य का आन्तरिक और बाह्य-दोनों ही स्वच्छ और निर्मल हों। मोटे रूप में ऐसी है—यह भारतीय संस्कृति ! तनिक और विस्तार के साथ समझने के लिए हमें इसको (१) वेदान्त संस्कृति, (२) जैन संस्कृति, तथा (३) बौद्ध संस्कृति—इन तीन विभागों में विभक्त करना होगा। इसके ये तीन विभाग वास्तव में इसके तीन रूप हैं, जो इसने समय-समय पर ग्रहण किये हैं। प्रसंग वश इसके इन तीन रूपों को थोड़ा-बहुत समझ लेना आवश्यक ही प्रतीत होता है।

वेदान्त संस्कृति : व्यक्ति, समाज, देश एवं राष्ट्र में व्यवस्था कायम रहे, इसके लिए भारतीय संस्कृति में मनुष्य को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण मिलकर कार्य करते हुए—व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र में व्यवस्था कायम रखते हैं और सभी का जीवन सुचारु रूप में आगे बढ़ता है। मनुस्मृति में इन चार वर्णों के कार्यों का उल्लेख किया गया है। पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना—ये छह कर्म ब्राह्मण के बतलाये गये हैं। और गरीब तथा असहाय व्यक्तियों की सहायता तथा रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा विषय-वासनाओं से दूर रहना—ये क्षत्रियों के कर्म हैं। पशुओं का पालन तथा रक्षण करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार और लेन-देन का कार्य करना—ये वैश्यों के कर्म निर्धारित किये गये हैं। शूद्र का कर्म—यह है कि वह तीनों वर्णों की सेवा-सहायता, बिना द्वेष एवं घृणा के करे।

वैदिक संस्कृति में इन चार वर्णों का निर्माण इसलिए किया गया था कि समाज, देश और राष्ट्र की व्यवस्थित गति में कहीं अव्यवस्था उत्पन्न न हो। मनुष्य-समुदाय के ये अंग बराबर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहें और मानव का जीवन सुचारु रूप से आगे बढ़ता रहे। ऐसी व्यवस्था किसी भी ग्रन्थ में हमको देखने के लिए नहीं मिली, जिसमें जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हों। वास्तव में, उन दिनों जातियाँ, मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति तथा इन शक्तियों के सही अथवा गलत प्रयोग के आधार पर निर्धारित होती थीं। जन्म से ब्राह्मण कर्म-च्युत होने पर चांडाल तक कहलाया जा

सकता था। महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थान पर भृगु ऋषि, महर्षि भरद्वाज से पूछते हैं—ब्राह्मण की क्या परिभाषा है ? और उनके इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि भरद्वाज कहते हैं—जो सुसंस्कृत, वेदाध्ययनशील, षट्कर्म में लीन, सदाचारी, विद्या-व्यसनी, और गुरु-प्रिय है—वही ब्राह्मण है। वैदिक धर्म के अनेक ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो जन्म से नीच होते हुए भी कर्मों से महान् होने के कारण महान् कहलाये। व्यास, पराशर, शुकदेव, कणाद, शृङ्गी आदि के नाम इस रूप में अग्रणी हैं।

जब से जातीय भेद-भाव बढ़ा, तब से समाज की अखण्डता नष्ट होने लगी और अब आकर तो वह खण्ड-खण्ड होकर चकनाचूर हो गई है। परस्पर का प्रेम-सूत्र टूटा तो सारे अनमोल मोती बिखर गये और वैदिक संस्कृति का रूप कुरूप हो गया। छूआछूत इस सीमा तक बढ़ा कि हम अपनों को भी पराया समझने लगे। यही कारण है, जो आज समाज, देश और राष्ट्र की प्रगति रुक-सी गई है। अगर आप चाहते हैं कि समाज का कल्याण हो, देश उन्नति के शिखिर पर पहुँचे तथा राष्ट्र गौरव-शाली बने तो आज के इस जाति-भेद के जंगलीपन को दूर कर वास्तविक वैदिक संस्कृति को अपनाने की चेष्टा कीजिये, जिसमें आपके कल्याण की भावना अपना रूप सँवारे बैठी है।

मानव-जीवन को पूर्ण-रूपेण विकसित करने के लिए; भारतीय संस्कृति में मनीषियों ने आयु के चार भाग किये हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, तथा (४) संन्यास ! आयु के ये चार भाग ही चार आश्रमों के नाम से पुकारे जाते हैं। ब्रह्मचर्य-आश्रम वास्तव में जीवन की तैयारी का समय है। अपनी इस तैयारी के समय में मनुष्य जो कमाता है, बाद के

जीवन में उसी को खर्च करता है। बल, वीर्य ; सभी प्रकार का ज्ञान आदि का संचय वह इस अवस्था में ही कर पाता है और आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ अपने सांसारिक जीवन को भी सुखी और सानन्द बना लेता है।

जीवन का दूसरा भाग है—गृहस्थाश्रम ! इस आश्रम में वही मानव प्रवेश करता है, जो अपने सम्पूर्ण जीवन में ब्रह्मचर्य-आश्रम को पूर्ण-रूपेण स्वीकार नहीं करता—अर्थात् जो आयु के प्रथम भाग की कठिनाइयों से ऊबकर अपने जीवन में कुछ परिवर्त्तन चाहता है। आध्यात्मिकता की ओर से हटकर जो सांसारिकता की ओर अग्रसर होता है। जो आयु के प्रथम भाग में संचित की हुई सम्पत्ति को कम करने का इच्छुक हो जाता है। लौकिक पक्ष की दृष्टि से यह आश्रम भी बहुत महत्व का है ; क्योंकि समाज, देश और राष्ट्र की सेवा का मूलमन्त्र मनुष्य-जीवन में इस अवस्था में भी निरन्तर स्पन्दित होता रहता है। इस आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् ही मनुष्य नारी की सहायता और सहयोग से नये मानव को जन्म देता है। इस नये मानव अथवा सन्तान के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है—प्रथम सन्तान धार्मिक, दूसरी कामी और तीसरी-चौथी.......इस प्रकार आगे की संतान पतित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिक सन्तान उत्पन्न करना धार्मिक और सांसारिक—दोनों दृष्टियों से वर्जित है।

मनीषियों ने जीवन के तीसरे भाग का नाम—वानप्रस्थ आश्रम रखा है। गृहस्थ आश्रम के भोगने के कारण मनुष्य अपनी आयु के प्रथम भाग में की गई कमाई में से बहुत कुछ नष्ट कर लेता है। इसलिये आगामी जीवन-पथ पर अग्रसर होने के लिए उसे फिर कमाने की आवश्यकता पड़ती है। और

अपनी आयु के इस तीसरे पन में वह फिर कमाई में जुट पड़ता है। अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति का जो भाग उसने नष्ट कर दिया है, इस आश्रम में प्रवेश करके वह उसे फिर प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह आत्मा और परमात्मा को भी भली प्रकार जानने के यत्न में लगता है। गृहस्थ-आश्रम को भोगने वाले मनुष्य के लिए वास्तव में इस आश्रम का बहुत मूल्य है!

जीवन का चौथा भाग है—संन्यास! वानप्रस्थ आश्रम में रहकर जब मनुष्य को आत्मा की पहचान हो गई तो स्वयं में संन्यास धर्म की प्रतिष्ठा करना उसके लिए परम आवश्यक हो जाता है। इस आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य संत लोगों की संस्कृति का पालन करता हुआ संसार को सत्-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। अपने ज्ञान को वह मानवों के हित बाँटता है और इसके बदले में वह संसार से तन ढकने के लिए थोड़ा-सा वस्त्र तथा जीवन धारण करने के लिए अल्प अन्न ग्रहण करता हुआ निर्वाण की ओर अग्रसर होता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संन्यासी जीवन, वास्तव में समाज-सेवा का जीवन है। विश्व का मंगल करना ही उसका आदर्श है। त्याग, संयम, समता, चरित्र-शुद्धि, और व्यवहार-कुशलता संन्यास के मुख्य लक्षण हैं।

जैन-संस्कृति : यह जीवन के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक; दोनों पक्षों पर पूर्ण प्रकाश डालती है। जैन-संस्कृति में आत्मा को ही सर्वोपरि माना गया है। जैन-संस्कृति के मनीषियों का कहना है कि ईश्वर वह अवस्था है, जो शुद्ध-बुद्ध हो गया है। निरंजन और निराकार उसकी स्थिति है। अतः किसी जीव को

सुख-दुःख देने की भी भावना ईश्वर को नहीं होती ; क्योंकि वह अशरीरि है। भक्ति करने वाले पर वह प्रसन्न नहीं होता है और निन्दक पर नाराज भी नहीं, क्योंकि वह राग-द्वेष से रहित है। जीव के सम्बन्ध में वे कहते हैं—क्योंकि आत्मा स्वयं के विषय में खुद विचार करता है, अपने सोचने-समझने के अनुसार वह स्वयं ही कार्य करता है, इसलिये वह स्वयं ही सुख-दुःख का अनुभव भी करता है। अग्नि में जो हाथ डालेगा, वही जलने की पीड़ा का अनुभव भी करेगा—उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं।

जैन-संस्कृति में किसी एक वस्तु अथवा तत्त्व को एक ही दृष्टि से देखना वर्जित है ; क्योंकि एक ही दृष्टिकोण से देखने से उस वस्तु अथवा तत्त्व का हमें सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो-पाता। उसकी वास्तविकता के दर्शन हमें नहीं होते। जैसे एक व्यक्ति है तो वह पिता, भाई, चाचा, पति, पुत्र, मामा आदि बहुत-कुछ है। फिर भी उस व्यक्ति को भली प्रकार से समझने के लिये हमें उसे उसके सभी रूपों में देखना होगा—तभी, हम उस व्यक्ति को भली-भाँति समझ सकने में समर्थ हो सकेंगे। इतने सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् ही वह व्यक्ति हमारी समझ में आ सकेगा ; अन्यथा नहीं। जैन-संस्कृति की यह भी मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नत्ति अथवा अवनति का स्वयं ही जिम्मेदार है। वह अपना विकास करके ईश्वर का स्वरूप तक प्राप्त कर सकता है।

जैन-संस्कृति में अहिंसा पर बहुत बल दिया गया है। उसकी इस मान्यता में सभी की हित-साधना निहित है। भगवान् महावीर इस मान्यता को समझाते हुए कहते हैं—"सव्वेजीवावि इच्छान्ति जीविउं न मरिज्जिउं।" अर्थात्—विश्व के समस्त प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरना किसी भी दशा में नहीं

चाहते। जिस प्रकार तुम जीवित रहना चाहते हो, उसी प्रकार सभी जीवित रहना चाहते हैं। फिर किसी स्वार्थ एवं कामना के वशीभूत होकर किसी को पीड़ित करना अथवा मारना, यह अनधिकार चेष्टा है। इस सृष्टि में जब तुम स्वतंत्रता-पूर्वक रहना तथा जीवन के सुख भोगना चाहते हो तो समझो इसी प्रकार समस्त प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक जीवित रहना और सुख भोगना चाहते हैं। और यह अधिकार सभी जीवों को समान भाव से प्राप्त है। यह विश्व सभी जीवों के लिये समान रूप से आश्रय-स्थान है, तो किसी को आश्रय से रहित करना—आत्म-द्रोह है। आत्म-द्रोह करने वाला उभय लोक में सुखी न होगा।

मांसाहार जैन-संस्कृति में अनुचित बतलाया गया है। श्रीमद् ठाणांग सूत्र में नरक-गामी के चार लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं, जिसमें मांसाहार सर्व-प्रथम गिनाया गया है और यह ठीक भी है। जब आप किसी को जीवन प्रदान नहीं कर सकते, तब आपको क्या अधिकार है कि आप किसी के जीवन का हरण करें! मांसाहार के समान ही जैन-संस्कृति में कोई नशीली वस्तु का सेवन करना भी वर्जित है। जुआ और चोरी को भी वे त्याज्य मानता है। पुनर्जन्म में जैनों का पूर्ण विश्वास है। जैनों की मान्यता है कि जो कर्म, प्राणी करता है, उसका फल उसको इस लोक और परलोक; दोनों में ही भोगना पड़ता है। वर्ण-भेद और जाति-भेद में जैन लोगों का कोई विश्वास नहीं है। स्त्री और पुरुष; दोनों ही समान अधिकार के साथ जीवन-विकास के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—ये रत्न-त्रय ही तीर्थंकरत्व पद के मूलाधार हैं। अब तक जैन-धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए है—प्रथम भगवान् ऋषभदेव तथा अन्तिम भगवान्

परिवर्त्तन होता रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी बदलती रहती है। उसकी गति ठीक दीपक की लौ-जैसी है। जिस प्रकार दीपक की लौ क्षण-क्षण में कभी धीमी, कभी तेज होती रहती है, ठीक इसी प्रकार आत्मा में भी नित्य और प्रत्येक क्षण परिवर्त्तन उपस्थित होता रहता है।

बौद्ध संस्कृति का विश्वास है कि मनुष्य को इतना घोर परिश्रम नहीं करना चाहिए कि वह अधिक दिनों तक न टिक सके—साथ ही इतना शिथिल भी न होना चाहिए कि वह बिल्कुल जड़वत् ही बन जाये। परिश्रम के सम्बन्ध में वह मानव की मध्यम स्थिति को ही श्रेयस्कर और सर्वोत्तम समझती है।

बौद्ध-संस्कृति की मान्यता है कि जीवन की शुद्धि के लिये तप की आवश्यकता नहीं है। उनकी दृष्टि में तप शरीर की शुद्धि कर सकता है, जीवन की नहीं। तप करने से शरीर में स्थित बीमारियाँ दूर हो सकती हैं, जीवन शुद्ध-बुद्ध नहीं बन सकता। ईश्वर के सम्बन्ध में बौद्ध-संस्कृति बिल्कुल मौन है। उसकी मान्यता है कि ईश्वर है या नहीं, इस जानकारी को प्राप्त करने से मनुष्य को कोई लाभ नहीं है। उसका सुझाव कर्त्तव्य पालन की ओर ही विशेष रूप से है। वह कहती है—एक मनुष्य अपना जितना समय ईश्वर की जानकारी प्राप्त करने में लगाता है, अगर उतना समय वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में लगाये तो उसका तथा संसार का कल्याण हो जाये।

माँसाहार के विषय में बौद्ध लोगों का कथन है कि स्वयं हिंसा करके मांस भक्षण नहीं करना चाहिए; लेकिन अन्य द्वारा प्रेषित किया हुआ मांस खा-लेने में कोई पाप नहीं है। इस संस्कृति में भिक्षुणी संघ को कोई खास मान्यता नहीं दी गई है। यद्यपि बुद्ध

ने, शिष्य आनन्द के कहने पर नारी के लिए भिक्षुणी संघ की डरते डरते स्थापना की थी ; फिर भी स्त्री सीमित साधना द्वारा ही अपने नियम और उपनियम का पालन कर सकती है।

आत्मा का अन्तिम लक्ष्य बौद्ध-मत में शून्यवाद ही माना जाता है। और एक वह भी समय आता है, जब जीव का अस्तित्व मिट जाता है। संक्षेप में बौद्ध-संस्कृति का यही सार है।

अस्तु, विभिन्न संस्कृतियों का परिचय देने के बाद मुझे कहना है—सम्पूर्ण विश्व की एक ही संस्कृति है और उस संस्कृति का नाम है, मानव संस्कृति ! जिन संस्कृतियों में मानवता के स्वर विद्यमान हैं, उन सब संस्कृतियों के स्वर को सुनना—संस्कृतियों के अध्ययन का सार है।

दिनांक :	स्थान :
१५-६-५६	सिकन्द्राबाद (आंध्र)

संस्कृति पर मुक्त-चिन्तन !

संन्यासी को उत्पादन कार्य में हिस्सा लेना चाहिए। जो संन्यासी अभी तक उत्पादन कार्य में शरीक नहीं होते, वे गलती करते हैं। हम संस्कृति के आधार पर उस गलती का परिमार्जन करना चाहते हैं। पहले के संन्यासी भिक्षा पर निर्भर रहते थे। वैसे ही हम भी भिक्षा पर निर्भन रहें, परन्तु साथ-ही-साथ शरीर-परिश्रम को एक व्रत के ही तौर पर नहीं, बल्कि महाव्रत के तौर पर स्वीकार करें! इसे हम संस्कृति पर मुक्त-चिन्तन के रूप में सहर्ष स्वीकार करें!

—'आचार' से

ग्यारह :

हमारे जीवन की रेखा : अपरिग्रह

महावीर ने मानव-जीवन के अभ्युत्थान के लिये एक सीमा रेखा खींची थी— 'अपरिग्रह ही जीवन है।' उस सीमा को आज मनुष्य ने लांघ दिया; इसलिए वह दुःखी है। शोषण, दोहन, और उत्पीड़न, नोंच और खसोट, एक-दूसरे को समाप्त कर देने की हिंसक वृत्ति—उस सीमा रेखा के अतिक्रमण का ही परिणाम है। मुनि जी की यह दृढ़ आस्था है—'अपरिग्रह ही जीवन है।'

—सं०

आज पर्युषण-पर्व का पाँचवाँ दिवस है। जिस अन्तकृद्दशांक सूत्र पर प्रवचन चल रहे हैं, आज उसके पाँचवें वर्ग का महत्व समझना है।

इस वर्ग में बताया गया है कि बड़े-बड़े वैभवशालियों ने भी अपनी अटूट सम्पत्ति को ठुकरा कर—भोगोपभोग की प्रचुर

सामग्री को त्याग कर—कनक और कामिनी की कामनाओं को तिलांजलि देकर चारित्र ग्रहण किया था ! ऐसा क्यों ?

सिर्फ इसीलिए कि विशुद्ध चारित्र को स्वीकार किये बिना किसी को वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। जीवन में चारित्र का वही स्थान है, जो फूल में सुगन्ध का है। सुगन्ध-हीन कागज के फूल की कौड़ी कीमत भी नहीं होती। चारित्र-हीन सम्राट् को भी कोई नहीं पूछता। क्या, अखण्ड वैभवशाली रावण का कोई आदर करता है ?

चारित्र जीवन रूपी मोटर का ऐसा ड्राइवर (चालक) है, जो सदा उसे ठीक रास्ते पर ले जाता है। इसलिये कह सकते हैं कि जीवन में चारित्र की उतनी ही अधिक आवश्यकता है, जितनी मोटर में ड्राइवर की।

'चारित्र'—'चर-गतौ' धातु से बना है, इसलिए उसका एक अर्थ 'गतिशीलता' भी है। तनिक हृदय पर हाथ रखकर देखिये कि वह कितना गतिशील है ! यदि क्षण-भर के लिये हृदय की गति रुक जाय—धड़कन बन्द हो जाय तो शरीर के सारे अंग शिथिल हो जायंगे—कोई भी अंग अपना काम न करेगा। ठीक, इसी प्रकार चारित्र-शून्य बनकर आध्यात्मिक क्षेत्र में आप कुछ नहीं कर सकते।

भगवान् महावीर स्वामी ने इस चारित्र के पांच भाग किये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। विशुद्ध तथा पूर्ण चारित्र के लिये इन पाँचों को अपनाना आवश्यक है। इनमें से एक भी कम हो तो—चारित्र अपूर्ण या दूषित माना जाता है। चारित्र के इन पाँचों विभागों में से आज मैं सिर्फ पांचवें विभाग पर—अर्थात् अपरिग्रह पर ही कुछ कहूँगा।

आसक्ति परिग्रह है : बड़े-बड़े सम्राटों ने जो साम्राज्य का परित्याग करके चारित्र अंगीकार किया था, उसका एक ही कारण था, और वह यह कि उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि जीवन में जितना परिग्रह कम होगा, उतना ही सुख बढ़ेगा। इसी विचार धारा के कारण बहुत-से साधुओं ने वस्त्र का भी परित्याग कर दिया है और वे नग्न रहने लगे हैं। इन्हें हम 'दिगम्बर जैनमुनि' कहते हैं। 'श्वेताम्बर मुनि' भी अपरिग्रही हैं, किन्तु वे मर्यादित वस्त्र धारण करते हैं। यह सिर्फ अपने-अपने दृष्टिकोण का फर्क है, सिद्धान्त का नहीं। इस विषय में मुझे अपने ही पिछले जीवन का एक संस्मरण याद आ रहा है, जिसे इस प्रसङ्ग पर सुना देना उचित मालूम हो रहा है—

घटना उस समय की है, जब विहार करते हुए हम लोग बनारस से नागपुर की तरफ जा रहे थे। उस समय एक गाँव में एक दिगम्बर मुनि से मिलन हुआ। वहाँ की जनता ने हम दोनों का एक ही विषय पर प्रवचन सुना। विषय था—"मानव धर्म क्या है ?"

हम दोनों को एक ही स्टेज पर और एक ही विषय पर प्रवचन करते देखकर वहाँ के श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी काफी प्रसन्न हुए। प्रवचन के बाद उन दिगम्बर मुनि ने मुझ से वार्त्तालाप के लिए कुछ समय माँगा। मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी।

दूसरे दिन वार्त्तालाप के लिए निश्चित किये गए समय पर मैं वहाँ जा पहुँचा, जहाँ वे ठहरे हुए थे। पारस्परिक शिष्टाचार और विनय-व्यवहार के बाद में जो कुछ बातचीत हुई, उसका सार इस प्रकार है—

वे बोले—"श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार के नियम क्या-क्या है ?—यह तो मैं नहीं जानता ; फिर भी एक बात मुझे खटकती है। यदि बुरा न मानें तो कहूँ।"

मैंने कहा—"इसमें बुरा मानने की क्या बात है ? आप जो कुछ कहेंगे, सोच-विचार कर ही कहेंगे—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।"

वे बोले—"साधु सर्वविरत होता है, श्रावकों के समान देश-विरत नहीं। इसलिए हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन की तरह परि-ग्रह का भी उसे सर्वथा त्याग करना चाहिए ; फिर समझ में नहीं आता कि श्वेताम्बर मुनि अपने शरीर पर वस्त्रों का भार क्यों लादे फिरते हैं ?"

मैंने कहा—"श्वेताम्बरों के द्वारा अर्द्ध-मागधी भाषा के जो सूत्र प्रामाणिक माने जाते हैं; उनमें से उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार—ये चार 'मूल-सूत्र' कहलाते हैं। इन में साधुओं के आचारों का विस्तृत निर्देश है। यदि आप श्वेताम्बर साधु-चर्या के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहते हों, तो इन मूल-सूत्रों का मनन पूर्वक स्वाध्याय करें।

खैर, अब मैं आपके प्रश्न का उत्तर देता हूँ। जिन मूल-सूत्रों के मैंने अभी-अभी नाम गिनाये हैं, उनमें से दशवैकालिक सूत्र के छटवें अध्ययन की बीसवीं और इक्कीसवीं गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

जंपि वत्थं व पायं वा,
कम्बलं पाय पुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा,
धारंति परिहरंति य॥

न सो परिग्गहो वुत्तो,
नायपुत्तेण ताइणा ।
"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

इन गाथाओं से साधुओं के मर्यादित वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि रखने का कारण—संयम और लज्जा की रक्षा बताया गया है । और यह भी कह दिया गया है कि इनकी गणना परिग्रह में नहीं होती; क्योंकि मूर्च्छा को ही परिग्रह कहते हैं। मूर्च्छा का अर्थ है-ममता या आसक्ति जो चिन्ता, भय, तृष्णा आदि मनोविकारों की जन्मदायिनी है। यदि कपड़ों पर ममता हो जाय तो जरूर उन्हें परिग्रह कहा जायगा ; परन्तु इतना ही क्यों ? यदि अपने शरीर पर ममता हो जाय तो शरीर भी परिग्रह के अन्तर्गत ही माना जायगा।"

यह सुनकर वे बोले-"यदि ऐसा मान लिया जाय तो ममता छोड़कर कोई साधु धन-दौलत भी अपने पास रख ले तो क्या हर्ज है ?"

मैंने कहा—"काफी हर्ज है। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई व्यक्ति धन-दौलत के बीच रहकर भी उसके प्रति ममता न रखे ; क्योंकि धन-दौलत का ममता से सीधा सम्बन्ध है। शास्त्रों में कहा है—*"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लाहो पवड्ढई ।"* ज्यों-ज्यों धन की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। परन्तु वस्त्रों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता ; और खास करके तब, जब कि वस्त्रों की एक विशिष्ट मर्यादा निर्धारित कर दी गई हो।

दूसरी बात यह है कि साधुओं के वस्त्र संयम और लज्जा की रक्षा के लिये होते हैं; धन-दौलत का इन गुणों से क्या सम्बन्ध ? अपितु विषय-कषाय और दुर्व्यसनों की वृद्धि का हेतु होने से धन-दौलत को हमेशा त्याज्य ही समझा गया है।

तीसरी बात यह है कि—आप और हम जो विहार करते हैं, ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हैं; उसका उद्देश्य एक ही है—'मानव धर्म का प्रचार'। फिर भी आप जैसे मुनियों के लिये प्रचार क्षेत्र कुछ सीमित हो जाता है, किन्तु हम लोग कहीं भी—किसी भी समाज के बीच पहुँच कर धर्म प्रचार कर सकते हैं; क्योंकि हमारे पास लज्जा ढंकने को वस्त्र होता है।"

बातें तो लगभग एक घण्टे तक और-और विषयों पर भी होती रहीं; किन्तु उनका सम्बन्ध आज के विषय से नहीं है। इसलिए इतना अंश सुनाना ही काफी है।

इस बातचीत से आप समझ गये होंगे कि अपरिग्रह क्या चीज है ? फिर भी सब कुछ कह दिया गया हो—ऐसा भी नहीं है। अपरिग्रह के विषय में और भी काफी स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

परिग्रह के दो रूप—परिग्रह एक प्रकार का बन्धन है। जब तक जीव बन्धन में फँसा है, तब तक मुक्त कैसे हो सकता है ?

भगवान् महावीर ने दो प्रकार का परिग्रह बताया है—एक बाह्य, और दूसरा आभ्यन्तर। धन-दौलत, मकान, नारी, दास-दासी, खेत, पशु आदि बाह्य-परिग्रह माना जाता है। और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आभ्यन्तर परिग्रह। मुमुक्षुओं के लिए दोनों प्रकार का परिग्रह त्याज्य है।

परिग्रह की त्याज्यता का एक प्रधान कारण यह है कि इससे मनुष्य में विश्व-बन्धुत्व की भावना नहीं पैदा हो पाती। वह भूल जाता है कि मेरा जन्म किस लिए हुआ है ? एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है :

"मनुष्य ! जगत् में तू फूल बनकर आया है, काँटा बनकर नहीं ; इसलिए यथाशक्ति अपनी सुगन्ध लुटाता रह (परोपकार करता रह); परन्तु काँटे के समान किसी को चुभने की कोशिश मत कर (किसी को दुःख मत दे)।"

इस मनुष्य की उदारता को छीनने वाला है—एक-मात्र परिग्रह, जो मनुष्य की वृत्तियों को इतनी संकुचित बना देता है कि वह अपना और अपने कुटुम्ब का ही स्वार्थ देखने लगता है। इससे ऊपर उसकी दृष्टि जा ही नहीं पाती। इस विषय में एक सच्ची घटना आपको सुनाता हूँ :

जब नारी का हृदय पसीज गया था—एक सेठ जी थे, जैन थे। साहूकारी का धन्धा करते थे। इसी पर्वाधिराज पर्युषण के दिन थे। सेठानी जी ने छह उपवास के प्रत्याख्यान ले लिये थे। सेठ जी भी यथाशक्ति सामायिक, प्रतिक्रमण आदि करने लगे थे।

उन्हीं दिनों दूकान पर एक कसाई आया। उसे तीन-सौ रुपए की आवश्यकता थी। सेठ जी ने डेढ़ रुपया प्रतिशत ब्याज पर उसे तीन-सौ रुपये दे दिये। कसाई रुपये गिन कर ले गया।

दूसरे दिन सेठ जी को आशंका हुई कि वह कसाई, दिये गए रुपयों को कहीं हजम तो न कर जायगा ? दूकान से

अपने नौकर को भेजकर उन्होंने फौरन कसाई को अपने सामने बुलवा लिया और उससे कहा :

"मैंने जो रुपये कल दिये थे, उन्हें लौटा दो। मुझे एक काम के लिए रुपयों की काफी जरूरत है।"

कसाई ने कहा—"सेठ जी ! वे रुपये तो सब के सब काम में आ गये—खर्च हो गये ; परन्तु आपने मौके पर मेरी सहायता की है, तो मैं भी आपके काम में कोई दिक्कत पैदा नहीं होने दूंगा। कल ही आप के सारे रुपये चुका दूंगा ; परन्तु शर्त्त यह है कि आप मुझे किसी तरह सौ रुपये और दे दें। इन रुपयों से मैं आज ही बकरे खरीद कर काटूंगा और मांस बेचकर होने वाली आमदनी से आपके कुल चार-सौ रुपये--ब्याज मिलाकर कुल चार-सौ छह रुपये कल ही चुका दूंगा।"

महीने भर का ब्याज जब दो ही दिन में मिल रहा हो तो भला सेठ जी चूकने ही क्यों लगे ? तिजोरी खोलकर तुरन्त सौ रुपये निकाल कर कसाई के हाथों में थमा दिये।

सेठ ने दूकान के भीतर ही रहने का कमरा बना रखा था, जिसमें उनकी धर्मशीला पत्नी बैठी थी। सेठ जी के साथ कसाई की जो कुछ बातचीत हुई थी, उसे उसने ध्यान से सुना था। इसलिए वह मन-ही-मन विचार करने लगी : "स्वार्थ मनुष्य को कितना नीचे गिरा देता है ! महीने भर का ब्याज दो दिन में पाने के लोभ ने मेरे पतिदेव की धार्मिकता का कैसा सत्यानाश कर दिया है ! पूर्व-जन्म में न जाने मैंने कौन-से पाप किये थे कि जिनके फलस्वरूप मुझे इस अधर्मी कुटुम्ब में आकर रहना पड़ा.......... !"

उधर कसाई के चले जाने पर किसी काम से सेठ जी को घर के भीतर जाने का अवसर आया। भीतर जाते ही, चिन्ता के कारण उदास बनी हुई सेठानी के चेहरे को देख कर सेठ जी के मुँह से उद्‌गार निकल पड़े—"छह दिन की लम्बी तपस्या करने वाली, ओ मुन्नी की मांई ! तुम्हें धन्य है।"

सेठानी जी ने मौन भंग किया—"धन्यवाद के अधिकारी तो आप हैं, मुन्नी के बाप ! जिन्होंने पर्युषण जैसे महापर्व की सच्ची आराधना करने के लिए एक कसाई को सौ रुपये गिन दिये ; जिससे कि वह बकरों जैसे पंचेन्द्रिय पशुओं का खून बहाकर आपके लोभ का पेट भर सके।"

सेठ जी के दिल में इन शब्दों से ऐसा डंक प्रहार लगा कि जैसा सौ बिच्छुओं के डंक से भी शायद ही लग पाता ! फिर भी अपने आपको संभाल कर उन्होंने जरा रूखे शब्दों में कहा—"तुम्हें तो सिवाय उपवास करने के और आता ही क्या है ? कमाई-धमाई के कामों में तुम्हें दखल देने के लिए कहा किसने है ? जो कमाई होती है, उससे सिर्फ मेरा ही पेट नहीं भरता, तुम्हारा भी तो भरता है !"

सेठानी बोली—"तो न भरो पेट ! मैं स्वयं ऐसे अन्यायो-पार्जित पैसों के अन्न को पेट में डालना पसन्द नहीं करती।"

सेठ जी बोले—"लेकिन इस तरह कैसे काम चलेगा ? आखिर तुम भूखी कब तक रहोगी ?"

"तब तक रहूँगी, जब तक तुम उस कसाई के रुपये माफ न कर दो और भविष्य में ऐसा अन्याय न करने की प्रतिज्ञा न कर लो !"—सेठानी ने कहा।

पापी का दिल ही कितना ? सेठ जी सेठानी की बात सुनकर घबराहट में पड़ गये। सोचा कि इस प्रकार भूखी-प्यासी रह कर सेठानी ने कहीं प्राण छोड़ दिये तो बड़ी मुश्किल हो जायगी। घर कौन संभालेगा ? इस बुढ़ापे में मेरी दूसरी शादी भी होने से रही। इसलिए आखिर उन्होंने सेठानी की शर्तें मंजूर करना ही उचित समझा—अर्थात् कसाई को बुलाकर कह दिया कि तुम्हें जो चार-सौ रुपये दिये गये हैं, वे सब व्याज सहित माफ किये जाते हैं। मेरे रुपये चुकाने के लिए अब तुम्हें बकरे काटने की जरूरत नहीं।

अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य कितना अन्यायी बन जाता है ? यह बात इस घटना से भली-भाँति समझी जा सकती है। जो धन अन्याय से पैदा होता है, उसका उपयोग भी अच्छा नहीं होता। ऐसा धन किसी को दान में भी दिया जाय तो दान लेने वाले को भी उसका दुरुपयोग ही सूझता है। एक दूसरे दृष्टान्त से आपको यह बात और अच्छी तरह समझ में आ जायगी :

एक शहर में दो मित्र रहते थे। एक करोड़पति, पर बेईमान। दूसरा गरीब, पर ईमानदार। बेईमान करोड़पति मित्र की धारणा ऐसी थी कि धन कितना भी बेईमानी से पैदा किया जाय—यदि उसका दान करते रहें—तो पाप धुलता रहता है ; इसलिए वह प्रति दिन अपनी कमाई में से एक स्वर्ण-मुद्रा का दान कर दिया करता था।

इसके विपरीत दूसरे गरीब मित्र की धारणा यह थी कि ईमानदारी से कमाया हुआ थोड़ा-सा धन भी यदि दान किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है।

एक दिन इस विषय में उन दोनों का विवाद भी हुआ और अन्त में यह निश्चय किया गया कि दोनों मित्र अपने-अपने दिये हुए दान का उपयोग, लेने वाला कैसे करता है ?—यह देख कर ही हार-जीत का निर्णय करें !

पहले करोड़पति मित्र ने एक व्यक्ति को एक स्वर्ण-मुद्रा दी और फिर उसका उपयोग जानने के लिए छिपकर वह उसका पीछा करने लगा तो मालूम हुआ कि रात को उसने वेश्यागमन में और शराब पीने में वह स्वर्णमुद्रा खर्च कर दी है।

दूसरे दिन ईमानदार गरीब आदमी ने एक भूखे को उधर से जाते हुए देख कर एक आना दे दिया। आना हाथ में आते ही उसने अपने हाथ में बंधी हुइ एक पोटली सड़क के तट पर नाले में फेंक दी। पूछताछ करने पर उसने बताया—"मैं तीन दिन से भूखा था। कहीं से अन्न का एक दाना भी नहीं मिल पाया था। इसलिए विवश होकर मैं एक सड़े हुए मरे कुत्ते को इस पोटली में बांध कर घर ले-जा रहा था कि किसी तरह इस पापी पेट की आग बुझा सकूं; किन्तु मेरे सौभाग्य से आप जैसे उदार सज्जन के दर्शन हुए और एक आने की सहायता भी मिली। इसलिए मैंने वह दुर्विचार छोड़ दिया और अब तो उस पोटली को ही नाले में फेंक चुका हूँ और ऐसा निर्णय कर चुका हूं कि एक आने के भुने हुए चने लेकर खा लूंगा और इसके बाद शरीर में कुछ शक्ति आने पर श्रम करके पेट भरूंगा।"

उपसंहार—बात यहाँ परिग्रह की चल रही है। अन्याय से जो परिग्रह बढ़ाया जाता है, उसका कैसा दुरुपयोग होता है? यह बात आप इस दृष्टान्त से भली-भाँति समझ गये होंगे। परिग्रह के मूल में लोभ है; जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि सभी

पापों का बाप है! भगवान् महावीर स्वामी ने इस रहस्य को समझा था और इसीलिए राज्य-वैभव को लात मार कर उन्होंने अपना जीवन सदा के लिए अपरिग्रही बना लिया था। अपरिग्रह को उन्होंने एक व्रत बनाया है—मूलव्रत! साधुओं के लिए सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ने का और गृहस्थों के लिए परिग्रह का परिमाण करने का उन्होंने विधान बनाया।

इस प्रकार अपने और उपदेशों से शासनपति श्रमण भगवान् महावीर ने बतला दिया है कि "अपरिग्रही जीवन" ही सुख की कुंजी है; इसलिए प्रत्येक प्राणी को यथाशक्ति परिग्रह के त्याग का प्रयत्न करना चाहिए। यही जीवन का प्रकाशमान पथ है।

दिनांक :
४-६-५६

स्थान :
बैंगलोर

बारह :

पर्युषण पर्व

जैनों में 'पर्युषण पर्व' यह मूलतः आध्यात्मिक त्योहार है। यह पर्व अपने मूल रूप में रहता रहा, परन्तु आज भक्तों की अज्ञानता का धुआँ इस त्योहार पर भी छाता जा रहा है। प्रवक्ता सन्त का कहना है कि इस त्योहार को लौकिक न बनाया जाय। सुधारक दृष्टि का उनका यह उपदेश बहुत सम्भव है भक्तों को जाग्रत कर अपनी भूलों का परिज्ञान करा कर उन्हें प्रकाश में ला सके!

—सं०

परिवर्त्तन एक ऐसा राग है, जो संसार के अणु-अणु से प्रतिक्षण सुनाई पड़ता रहता है। शीत ऋतु बीत गई, वसन्त का आगमन हुआ। दिन गया, रात आ गई। रात्रि व्यतीत हो गई, दिन निकल आया। कल तक जो कली थी, आज वह फूल बन गई। कल जो रोता हुआ सोया था, आज वह हँसता हुआ उठा है—इस तरह परिवर्त्तन का यह राग प्रतिपल और सर्वत्र सुनाई पड़ता है—

मानो, इस जगत् में परिवर्त्तन ही सब कुछ है। शायद इसीलिये यह बुद्धि जीवी मनुष्य, परिवर्त्तन को बहुत प्यार करता है। रोज किसी काम को करते-करते जब वह ऊब जाता है, तो चाहता है, कम-से-कम एक दिन के लिये तो उसे उस काम से छुटकार मिले—मतलब किसी रूप में तो उसके जीवन में परिवर्त्तन उपस्थित हो। और अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के निमित्त उसने विभिन्न प्रकार के आयोजनों को जन्म दिया है। पर्व और उत्सव उसकी इसी प्रतिक्रिया के फल हैं।

यों साधारण मनुष्य के लिए पर्व और उत्सव में कोई अन्तर नहीं है; मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन दोनों के बीच आकाश और पाताल जैसा अन्तर दीख पड़ेगा। उत्सव वास्तव में मन और शरीर का सुख है; लेकिन पर्व आत्मा का आनन्द है। उत्सव के दिन हम अपने शरीर को अधिकाधिक आकर्षक बनाने की चेष्टा में निमग्न होते हैं; मगर पर्व के दिन हम अपनी आत्मा पर चढ़े हुए मैल को धोने का प्रयत्न करते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार हमारी आत्मा को रात-दिन ढके रहने का प्रयत्न करते हैं और पर्व के दिन हम अपने इन्हीं विकारों से मुक्ति पाना चाहते हैं।

इसीलिए संसार के प्रत्येक धर्म में पर्वों की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जैन-धर्म में भी पर्युषण पर्व, और उपसंहारात्मक संवत्सरी महा पर्व आदि कई पर्वों को स्थान दिया गया है। हमारे इन पर्वों का भी सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। इन पर्वों के दिनों हम अपनी आत्मा को धो-पोंछ कर साफ करने के कार्य में जुट जाते हैं। और इस प्रकार उसे साफ-सुथरा बनाकर परमानन्द का अनुभव करते

हैं। वास्तव में, परमानन्द की प्राप्ति ही हमारी आत्मा की चिर-साध है, जिसे पर्व के माध्यम से प्राप्त कर आत्मा सुखानुभव करने लगती है।

जैन-संस्कृति में पर्युषण पर्व का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह अष्ट दिवसीय होता है। शास्त्रों की भाषा में इसे हम अष्टाह्निक महापर्व कहते हैं। यह वर्षा-ऋतु में मनाया जाता है। प्रायः भाद्रपद की तेरस से इसका आरम्भ होता है और यह बराबर आठ दिन तक चलता रहता है। इसके आठवें दिन को संवत्सरी महापर्व कहते हैं। जैन-मतानुसार इसी दिन नये संवत् का आरम्भ होता है। अन्य कतिपय लोग इस दिन को ऋषि-पंचमी के नाम से सम्बोधित करते हैं। पर्युषण पर्व के इन मंगलमय दिनों में तप का विधान किया गया है—क्योंकि पर्युषण पर्व का सांस्कृतिक अर्थ होता है—आत्मा की उपासना करना। आत्मा के निकटवर्त्ती बनना। शान्ति, क्षमा, सन्तोष, संयम आदि गुणों को स्वयं में बसा कर स्वयं को पहचानना। इसीलिए इन दिनों मनुष्य आत्मोन्मुख बनने की चेष्टा में निमग्न होता है। वास्तव में, जीवन और जगत् के झमेलों और आकर्षणों में फंसा रहने के कारण मनुष्य स्वयं को भी भूल बैठता है। वह इस बात को याद नहीं रख पाता कि वह कौन है, और यहाँ क्यों आया है। उसे करना क्या चाहिए; मगर कर क्या रहा है! फलतः मनुष्य का स्वभाव ईर्षालु और हृदय संकीर्ण बन जाता है। इसलिए पर्युषण पर्व का विधान कुछ इस प्रकार से किया गया है कि वह संसार के सघन वन में भूले-भटके मानव को आत्म-दर्शन की ओर बढ़ाने का सफल प्रयत्न करता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—अतः चाहिए तो उसे यह कि वह समाज में हिल-मिलकर रहे। धर्माचरण करता हुआ अपना जीवन यापन करे। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विकारों से दूर रहने का प्रयत्न करे; मगर करता है, वह इसके बिल्कुल विपरीत! स्वार्थ के वशीभूत होकर वह धर्माचरण को भूल जाता है और पाप-पंक में फँसकर वह इस लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ लेता है। आत्मा से दूर, बहुत दूर हटकर, संसार और शरीर के विकारों से अपना नाता जोड़ लेता है। इस प्रकार वह अपनी हानि तो करता ही है, साथ ही अपने कुविचारों का प्रभाव वह समाज पर भी छोड़ता है, जिससे समाज भी दूषित हो जाता है। और पर्युषण पर्व मनुष्य तथा ससाज की इसी व्याधि का सच्चा उपचार है। हमारे इस पर्व की यही प्रेरणा है कि मनुष्य स्वयं को पहचाने, व संसार के सभी प्राणियों के साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करे, उसका प्रत्येक कार्य मंगलमय हो—असहाय, दलित और पीड़ित मनुष्यों की सेवा करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझे, शोषित व्यक्तियों के प्रति दया भाव रखे, दोषी व्यक्ति को क्षमा का दान दे, परिग्रह और संग्रह की वृत्ति का त्याग करे—और इस प्रकार परम पवित्र जीवन व्यतीत कर आत्मानन्द में लीन हो जाय।

मगर आत्मानन्द किसी भी मनुष्य को तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह अपने इहलोक के सुखों को तपश्चर्या की अग्नि में जलाकर राख बना दे—इसलिए पर्युषण पर्व में तपश्चर्या को विशेष स्थान दिया गया है। अन्न का त्याग करना, या किसी वस्तु विशेष का त्याग आदि; ऐसी ही अनेक बातें तपश्चर्या के अन्तर्गत

आती हैं। यहाँ पर त्याग का अर्थ केवल किसी विशेष वस्तु को छोड़ देने से ही नहीं है; बल्कि उस त्यागी हुई वस्तु का किसी अन्य प्राणी को दान करना भी आवश्यक समझा गया है—क्योंकि इस प्रकार त्यागी हुई वस्तु को किसी अन्य प्राणी को दान में देने से उस प्राणी का भरण-पोषण होता है। उसकी किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। और इस प्रकार त्याग करने वाले तथा प्राप्त करने वाले—दोनों ही प्राणियों को आनन्द मिलता है।

तप के बारह भेदों में अनशन को प्रथम स्थान प्राप्त है। उपवास करने वाला व्यक्ति अपने हिस्से के अन्न से किसी अन्य प्राणी की क्षुधा को तो शान्त करता ही है; साथ ही वह राग-द्वेष आदि अपनी बुरी वृत्तियों को छोड़ सकने में भी समर्थ हो पाता है—क्योंकि व्रत रखने से चित्त निर्मल हो जाता है। दूषित वृत्तियों की ओर अग्रसर न होकर वह शान्ति, क्षमा, सन्तोष आदि सद्-वृत्तियों की ओर आगे बढ़ता है। भोजन वास्तव में शरीर की खुराक है, न कि आत्मा की! इसलिए भोजन की ओर अधिक आग्रह न रखना चाहिए। विद्वानों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'कम खाना और गम खाना सभी कालों में और सभी परिस्थितियों में लाभप्रद है।' हाँ, तो अगर आप अपनी आत्मा को बलशाली बनाना चाहते हैं तो पर्यु षण पर्व में निहित तप के बारह भेदों में प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले इस अनशन की महत्ता को भली प्रकार समझिये और जीवन के व्यवहार में उसे तुरन्त स्थान दीजिए—इससे आपकी आत्मा को बल मिलेगा।

पर्यु षण पर्व को हम लोग मांगलिक पर्व भी कहकर पुकारते हैं; क्योंकि यह सभी प्रकार से मंगल करने वाला

पर्व है। आध्यात्मिक पर्व इसको इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इन दिनों ऐसे महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़े और सुने जाते हैं, जिन्होंने अपने सर्वस्व का त्याग हँसते-हँसते कर दिया है। अपरिग्रह के व्रत को स्वेच्छा से ग्रहण किया है। और अपनी इसी वृत्ति के कारण आज वे हमारे बीच अमर हैं। सूर्य के समान दम-दमकर दमक रहे हैं। जिस प्रकार अहिंसा का नाम लेते ही हमें अहिंसा के उत्कट पुजारी भगवान् महावीर का नाम याद आता है, इसी प्रकार पर्युषण पर्व का नाम याद आते ही हमारे मस्तिष्क में इन महापुरुषों की स्मृतियाँ भी ताजा हो जाती हैं।

पर्युषण पर्व सात्विकता का पर्व है। इस पर्व के दिनों में हमें शरीर को सजाने और सँवारने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि हम अपनी आत्मा का शृंगार करें—और यह तभी सम्भव है, जब हम अपने शरीर का शृंगार करना छोड़ दें। इस सम्बन्ध में नारी-वर्ग को विशेष रूप से सतर्क रहने की आवश्ककता है; क्योंकि शरीर के शृंगार के प्रति उनका मोह विशेष रूप से होता है। जब लाज साधारण खादी के कपड़ों से भी ढकी जा सकती है तो विशेष रूप से तैयार किये गये रेशमी या मखमली कपड़ों के प्रति अपनी रुचि प्रगट करना किसी भी रूप में शोभनीय नहीं कहा जा-सकता। भारतीय नारी की तो यह विशेषता रही है कि स्वयं भी साधारण परिधानों के बीच रहती आई है और अपने कुटुम्ब वालों को भी उसने इसी बात की शिक्षा दी है। अहिंसक स्वभाव वाले इन पर्वों के दिनों में तो यह और भी आवश्यक है कि विविध जन्तुओं के शरीर या खालों से निर्मित वस्त्रों का

परित्याग किया जाये। कीमती वस्त्रों के साथ-साथ जहाँ तक सम्भव हो सके, हमें आभूषणों का भी त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि आभूषण समाज में चौर्य जैसी दूषित मनोवृत्ति फैलाने में सहायक सिद्ध होते हैं। महासती चन्दनबाला, राजमती, सीता आदि देवियों के नाम इसलिए अमर नहीं हैं कि वे बहुत कीमती वस्त्र पहनती थीं या बड़े ठाट-बाट से रहती थीं; बल्कि आज भी वे इसलिए याद की जाती हैं कि इन देवियों ने त्याग और तपस्या का मार्ग अपनाया था। इन्होंने इस सत्य को भली प्रकार पहचान लिया था कि भौतिक पदार्थों के प्रति लालायित होने का अर्थ है—आत्मा से दूर भागना!

हाँ, तो इन महापुरुषों और देवियों की भाँति आप भी त्याग के मार्ग पर आगे बढ़िये। शरीर के मोह को त्याग कर अपनी आत्मा को उन्नत और बलशाली बनाइये। प्रत्येक वर्ष आ-आकर पर्युषण पर्व आपका ध्यान इसी ओर आकर्षित करता है। आप यदि परिवर्त्तन को प्यार करते हैं, तो भौतिकता को त्याग कर आध्यात्मिकता की ओर मुड़ जाइए और इस तरह जीवन और जगत् में एक सात्त्विक परिवर्त्तन उपस्थित कर दीजिये।

पर्युषण पर्व का यही एक अमर सन्देश है!

दिनांक :
३१-८-५६

स्थान :
बेंगलौर

शरीर को दफ़ना दो !

प्रत्येक संस्था, सम्प्रदाय और धर्म एक निश्चित आदर्श लेकर चलते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पर्व, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक—एक आदर्श लेकर चलता है। परन्तु कालान्तर में उन आदर्शों की आत्मा मर जाती है और परम्पराओं के रूप में तत्-तत् पर्वों से सम्बन्धित लोग पर्वों के शरीर को उठाए फिरते हैं—जिन में से बदबू आती है। फलस्वरूप आस-पास में बसने वाला मानव-समाज नाक सिकोड़ कर दूर भागता रहता है। अतः पर्वों के शरीर को दफ़ना कर उनकी मूलात्मा की पूजा करो !

—अज्ञात

तेरह :

सामायिक क्यों और कैसे ?

समभाव साधना से, आत्मा सबल और निर्भय बनती है। समभाव की अखण्ड साधना ही सामायिक है। सामायिक के मूलोद्देश्य को सांसारिक ऐषणाओं की दल-दल में फँसे उपासकों ने भुला दिया। सामायिक का हृदय क्या है ? इस प्रश्न की परिक्रमा करते हुए प्रवचनकार ने एक गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है !

—सं०

भव्य जीवों के लिए भगवान् महावीर ने छह आवश्यक बताये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आत्म-कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक होने से ही इन्हें "आवश्यक" कहा गया है।

आज के प्रवचन में मैं इनमें से सिर्फ पहले सामायिक आवश्यक पर ही कुछ कहूँगा।

सामायिक क्यों ? आप लोग आज अधिक से अधिक संख्या में सामायिक व्रत लेकर धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठे हैं; किन्तु यदि मैं यह पूछ लूँ कि आप सामायिक क्यों करते हैं अथवा सामायिक क्यों का जाती है ? तो आप सब लोग भिन्न-भिन्न उत्तर देंगे।

कोई कहेंगे – "हमारे बड़े सामायिक करते थे; इसलिए हम भी करते हैं।"

कोई कहेंगे—"यदि हम आज सामायिक न करते तो पिता जी नाराज हो जाते अथवा माता जी नाखुश हो जातीं; इस लिए इच्छा न होते हुए भी सामायिक करने बैठ गये हैं।"

कोई कहेंगे—"एक बार अमुक मुनिराज आये थे, उन्होंने हमें यावज्जीवन के लिए सामायिक करने का नियम दिला दिया था ; इसलिए सामायिक करनी ही पड़ती है।"

कोई कहेंगे—"हम श्रावक कहलाते हैं; इसलिए हमें सामायिक करनी ही पड़ती है। यदि हम सामायिक न करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ?"

ऐसे और भी अनेक उत्तर हो सकते हैं; परन्तु इनमें से एक भी उत्तर प्रश्न के अनुरूप नहीं है। उत्तरों के ये नमूने हमारे हृदय का परिचय देते हैं कि हम में कितनी दुर्बलता है ! कितना भय है !! कितना अज्ञान है !!

असली उत्तर यह है कि हम समता या समभाव का अभ्यास करने के लिए सामायिक करते हैं। सामायिक से समभाव को

शिक्षा मिलती है—इसीलिए चार शिक्षा-व्रतों में सबसे पहला स्थान उसे मिला है। समभाव प्राप्त किये बिना शेष पाँच आवश्यकों की पात्रता भी नहीं मिल सकती; इसीलिए छह आवश्यकों में सामायिक का स्थान सबसे पहला है।

'लोग क्या कहेंगे' ? इस भय से अथवा लोग हमें 'धर्म-प्रेमी' कहें—इस लोभ से सामायिक करना दम्भ ही है। हमें चाहिए, सच्चे अर्थों में धर्ममय आत्मा बनाने के लिए अथवा समभाव का सबक सीखने के लिए ही सामायिक व्रत का पालन करें।

विवेकी बनिये ! सामायिक से पूरा लाभ उठाना हो, तो हमें विवेकी बनना होगा। मन यदि ज्यों का त्यों रहा और शरीर स्थिर भी हो गया, तो भी वास्तविक लाभ हमें न मिल सकेगा। एक दृष्टान्त के द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी :

एक राजा ने अपने खजाने के धन की रक्षा के लिए नेपाली नौजवान को नौकर रखा और उसे समझा दिया कि रात को तुम्हें अमुक कमरे के बाहर दरवाजे पर लगे हुए ताले की सील देखते रहना है कि कहीं वह टूट न जाये।

नेपाली नौकर अपनी ड्यूटी को बड़ी ईमानदारी से संभालने लगा। रात को वह ताले की सील पर हाथ रखकर बैठ जाता और ऊँघता रहता।

एक दिन चोर आये और उन्होंने दीवार तोड़ कर सारा धन निकाल लिया—खजाना खाली कर दिया और चले गये।

दूसरे दिन कमरे की दीवार टूटी हुई देखकर राजा ने नेपाली

नौकर को डाँटते हुए पूछा—"तुम्हारे रहते खजाने के धन की चोरी कैसे हो गई ? जब चोर आये थे, तब क्या तुम सो रहे थे ?"

"नहीं हुजूर ! मैं बराबर जग रहा था और यह भी देख रहा था कि चोर आये हैं—दीवार तोड़ रहे हैं—धन निकाल रहे हैं और ले जा रहे हैं।" नेपाली ने साफ-साफ कहा।

"तब तुमने हमें या हमारे सेनापति को सूचित क्यों नहीं किया ?"

"हुजूर ! ड्यूटी पर मैं अकेला ही था। यदि सूचना करने के लिए चला जाता तो पीछे से कोई चोर उस ताले की सील को तोड़ सकता था। यदि मेरे साथ एक दूसरा आदमी और होता तो मैं उसे भेज देता अथवा ड्यूटी पर उसे बैठा कर मैं खुद चला जाता।"

"तेरे पास भी तो हथियार थे; फिर तूने क्यों न चोरों को मार भगाया ?"

"हुजूर ! मेरी ड्यूटी सिर्फ सील को बचाने के लिए थी, धन की रक्षा के लिए नहीं; इसलिए मैं कुछ न बोला। आप मेरी ड्यूटी के अनुसार अब भी देख सकते हैं कि सील को मैंने जरा भी टूटने नहीं दिया है।"

राजा ने समझ लिया कि नौकर ईमानदार तो है, पर है पूरा अविवेकी। अपने अविवेक के ही कारण यह इतना नहीं सोच पाया कि सील की रक्षा, आखिर खजाने के धन की रक्षा के ही लिए तो है ! अन्ततः राजा ने अयोग्य समझ कर नौकरी से अलग कर दिया।

आज आप उस नेपाली के अविवेक पर हँस सकते हैं, किन्तु आत्म-निरीक्षण करें तो पता चलेगा कि उससे भी बढ़कर अविवेकी हम खुद हैं। एक जगह अड़तालीस मिनिट तक लगातार बैठे रहना, मुँहपत्ति बाँधना, आसन बिछाकर बैठे-बैठे माला फिराना आदि सारी क्रियाएँ उस सील की रक्षा के समान शरीर को स्थिर रखने जैसी हैं; परन्तु सील की रक्षा जैसे खजाने के धन की रक्षा के लिए है, वैसे ही ये सब क्रियाएँ समभाव या समता रूपी आत्मा के धन की रक्षा के लिए हैं। यह बात जब तक हम समझ नहीं लेते, तब तक हम सामायिक से पूरा लाभ नहीं उठा सकते।

बर्त्तन को सिर्फ बाहर से ही नहीं मलना है, भीतर से भी मलना है। बाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप भी जरूरी है। शरीर की स्थिरता के साथ मन की स्थिरता भी होनी चाहिये। सील की रक्षा के साथ—धन की रक्षा भी आवश्यक है। शान्ति या समता ही आत्मा का धन है। इसी धन की रक्षा के लिए सामायिक की जाती है; इसलिए सामायिक में बैठने के बाद आपके मन में अशान्ति या विषमता का उद्रेक न होना चाहिये। विवेक होगा तो ऐसा न होगा; इसलिए सामायिक व्रत अंगीकार करने से पहले विवेकी बनना आवश्यक है।

पूर्व तैयारी : जब हम अपने नगर या गाँव में किसी को आमन्त्रित करते हैं तो वह आगन्तुक आने से पहले यह जरूर सोचता है कि अमुक जगह जाने से मेरी पोजीशन रहेगी या नहीं ? इसके लिए वह देखेगा कि अपने लिए आतिथ्य सत्कार की क्या-क्या तैयारियाँ की गई हैं।

यदि आपने किसी मिनिस्टर को अपने गाँव में आने के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया है तो भेजने के साथ ही मकान, सड़कें, गलियाँ, गटरें आदि साफ करने की जिम्मेदारी भी आप पर आ जाती है। ठीक उसी प्रकार सामायिक व्रत अंगीकार करते समय जब हम—

"करेमि भन्ते ! सामायियं"

कहकर भगवान् को सम्बोधित करते हैं तो हमें अपने हृदय के कूड़े-कचरे को साफ करने—मन के राग और द्वेष को कम करने—चित्त को स्थिर और शुद्ध करने की भी जिम्मेदारी उठानी चाहिये।

अतिथि को जिसमें हम ठहराना चाहते हैं, उस मकान को साफ व स्वच्छ करना तथा उसे सुन्दर वस्तुओं से सजाना भी जरूरी है। इसी प्रकार भगवान् को जब हम अपने मन-मन्दिर में बुला रहे हैं तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम क्रोध, मान, माया, लोभ आदि समस्त दुर्वृत्तियों को झाड़-बुहार कर मन-मन्दिर को दया, सत्य, क्षमा, न्याय, प्रेम, सेवा, विनय आदि से सुसज्जित करना भी आवश्यक है।

भगवान् को निमन्त्रण—भगवान् को यदि हम आमन्त्रण भेज कर भी उनके लिए आतिथ्य की यथा योग्य तैयारी न करें तो इसका अर्थ यह होगा कि हम उनके साथ खिलवाड़ कर रहे हैं—मजाक कर रहे हैं।

अमेरिका में 'फर्स्ट अप्रेल फूल' नामक एक पर्व दिवस

मनाया जाता है। तीन-चार दिन पहले अपने इष्ट मित्रों को अमुक दिन फलाहार के लिए पधारने की साग्रह प्रार्थना की जाती है। फिर जब निश्चित समय पर निश्चित दिन उसके घर, कारों पर कारें आ ठहरती हैं तो वह सब को एक जगह बिठाकर कप-बसियों में थोड़ा-थोड़ा पानी परोसवा देता है और जब वे लोग कहते हैं कि—"यह क्या है भाई ?"

तब वह हाथ जोड़कर उत्तर देता है—"आज तो 'अप्रेल फूल' का दिवस है, क्षमा करें।"

यह सुनते ही सब लोग अपना-सा मुँह लेकर अपने-अपने घर लौट जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि चित्त-शुद्धि रूप पूर्व तैयारी किये बिना ही यदि हम अपने मन में पधारने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं, तो वह कितनी भी आग्रह पूर्वक क्यों न की गई हो ; उसका मूल्य 'अप्रेल फूल दिवस' से बढ़कर नहीं है।

यद्यपि जैन-सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा एक ऐसे स्थान पर जा विराजते हैं कि जहाँ से लौटकर कभी नहीं आते; फिर भी यहाँ जो परमात्मा के बुलाने की बात कही गई है, उसका उद्देश्य है—मानसिक शुद्धि का महत्त्व समझना। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा जैसी ही है; सिर्फ कर्मों का मैलापन उनमें नहीं है—जैसा आत्मा में है। इस मैलेपन के उस पार झांकने की कोशिश की जाय तो हमें अन्तःकरण के भीतर जिस विशुद्ध आत्मा के दर्शन होंगे, उसे 'परमात्मा' समझने में कोई हर्ज नहीं है। यही 'परमात्मा' का आगमन है और इसके लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही 'आमन्त्रण' है।

सामायिक एक प्रकार से जीवन-शुद्धि का प्रयत्न है · इस प्रयत्न में जो व्यक्ति जितना अधिक सफल होता है, उसकी सामायिक उतनी ही अधिक सफल है।

आदर्श सामायिक : सफल सामायिक करने वालों में सबसे पहले जिस श्रावक का नाम याद आता है, उसका नाम है—पूणिया।

रूई की पूणियों से सूत कातकर अपने कुटुम्ब की आजीविका चलाने से ही उसका यह नाम प्रसिद्ध हो गया था; अन्यथा उसका असली नाम कुछ और ही था, जिसे आज कोई नहीं जानता। खैर, नाम कुछ भी हो—हमें तो उसके गुणों से मतलब है। भगवान् महावीर भी स्वय उसके गुणों की प्रशंसा किया करते थे।

एक दिन जब महाराज श्रेणिक ने भगवान् से पूछा था : "भगवन् ! एक बार आपने कहा था कि मैं नरक में जाने वाला हूँ और वहाँ के भयंकर दुखों का भी आपने खूब वर्णन किया था; इससे मेरी अन्तर्रात्मा में पर्याप्त भय उत्पन्न हो गया है—मैं चाहता हूँ कि उस नरक से मेरा पिण्ड छूट जाय तो अच्छा है ! क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है भन्ते ! कि मैं उस नरक-कुण्ड से बच सकूँ ?"

इस पर भगवान् बोले : "राजन् ! हर वस्तु का उपाय है; नरक का भी है, और वह है—सामायिक व्रत ! परन्तु मुश्किल यह है कि आप आदर्श सामायिक कर न सकेंगे। हाँ, आप तो राजा हैं; इसलिए आप चाहें तो उसे खरीद सकते हैं। जिस वस्तु का मनुष्य स्वयं निर्माण नहीं कर सकता, उसे खरीद लेता है।

आप भी ऐसा करते हैं। यही व्यवहार है। आपके ही नगर के एक कोने में 'पूणिया श्रावक' नामक एक गृहस्थ रहता है। आप उससे मिलकर एक सामायिक खरीद लें तो आपका पिण्ड नरक से छूट सकता है।"

यह सुनकर महाराज श्रेणिक अपने महलों में लौट आये और अपने पुत्र अभय कुमार से कहने लगे—"बेटा! आज मुझे पूणिया श्रावक से मिलकर उससे, एक सामायिक खरीदना है।"

यद्यपि अभय कुमार समझते थे कि सामायिक का फल इतना अधिक होता है कि वह सोने के पर्वतों से भी खरीदा नहीं जा सकता; फिर भी अपने पिता जी का उत्साह नष्ट न हो और इस विषय में उनका भ्रम भी दूर हो जाय—इस दृष्टि से उन्होंने कहा—"ठीक है, पिताजी! सामायिक का फल खरीदने के लिए हमें अवश्य चलना चाहिये। इतने महत्वपूर्ण सौदे में आपके साथ, मैं भी रहना चाहता हूँ।"

"चलो!" पिता ने उत्सुकता से कहा।

अन्तत: पूछते-पूछते दोनों पिता-पुत्र शहर के एक कोने में किसी छोटी-सी कुटिया के समीप जा पहुँचे। बाहर एक बच्चा खेल रहा था। उसी से पूछा—"पूणिया श्रावक कहाँ रहता है?"

बच्चे ने कहा—"आइये, यह कुटिया उन्हीं की है। मैं उन्हीं का पुत्र हूँ। थोड़ी देर यहाँ विश्राम कीजिये। तब तक वे आ जायेंगे।"

"तो क्या वे घर में नहीं हैं? बाहर कहीं गये हैं?"

"नहीं ! हैं तो घर में ही ; परन्तु इस समय वे सामायिक कर रहे हैं। जब सामायिक पूरी होगी, तब आपसे, मुझ से, अम्मा से ; सब से बोलेंगे। अभी तो वे किसी से नहीं बोलेंगे।"

"तब तो हमें जरूर घर के भीतर ले चलो। हम उनकी सामायिक ही तो देखने, पसन्द करने और खरीदने आये हैं।"

"अच्छी बात है। चलिये, मेरे पीछे-पीछे।" बालक ने कहा।

बच्चा आगे और पीछे-पीछे दोनों पिता-पुत्र उस कमरे में पहुँचे जिसमें कि स्वच्छ और साफ भूमि पर आसन बिछाकर पूणिया श्रावक अपने ध्यान में तल्लीन हुए बैठे थे। महाराज श्रेणिक और अभय कुमार कुछ ही दूरी पर बैठ गये और सामायिक पूरी होने की प्रतीक्षा करने लगे।

पूणिया श्रावक उस समय अपने धर्म-ध्यान में इतने तन्मय थे कि इस बात का उन्हें पता ही न चल पाया कि दो व्यक्ति कब से उस कमरे में आये बैठे हैं।

ध्यान पूर्ण होने पर उनके चेहरे पर विषाद छा गया और वे बोल उठे:—

"भगवन् ! कल मुझ से कौन-सा पाप हो गया है—किसके प्रति अन्याय हो गया है कि आज धर्म-ध्यान के बाद मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है ? मुझे तो कुछ याद नहीं आ रहा है।"

पिता और पुत्र—दोनों पूणिया श्रावक के मुँह से निकलने वाले उद्‌गार ध्यान पूर्वक सुन रहे थे।

सामायिक पारते ही सबसे पहले उन्होंने आगन्तुकों के लिए योग्य आसन बिछाया और फिर अभिवादन करके बोले—"पहले मैं अपने पाप का पता लगा लूँ और उसका प्रायश्चित्त कर लूँ; फिर आपकी सेवा में हाजिर होता हूँ। इतनी देर तक मुझ से बातचीत करने के लिए आपने प्रतीक्षा की तो थोड़ी देर तक और कीजिये।"

यह कह कर पूणिया श्रावक उस कमरे में गये, जहाँ उनकी सहधर्मिणी बैठी थी। जाते ही पूछा कि—"प्रिये! मुझे कुछ याद आ रहा है कि कल मुझ से किसी के प्रति कोई अन्याय हो गया हो। तुम्हें याद आता हो, तो बताओ।"

पत्नी ने रुँधे कण्ठ से उत्तर दिया :—"प्रियतम! अन्याय आपके द्वारा तो नहीं, किन्तु मेरे द्वारा जरूर हो गया है। बात यह हुई कि कल भोजन बनाने के लिए जब आग की जरूरत हुई तो मैं पड़ोसिन के यहाँ जाकर आधा जलता हुआ उपला माँग लाई थी और फिर भूल से उसका उपला लौटा नहीं सकी। अन्याय से लाये गये उस उपले को जलाकर भोजन बनाया गया था; इसलिए आज आपका चित्त उद्विग्न है। खैर, मैं अभी जाकर उनका उपला दे आती हूँ।"

"उपला देना था कल ही; आज उपले के बदले श्रम देना ही उस अन्याय का ठीक प्रायश्चित्त है।" यह सोचता हुआ पूणिया श्रावक पड़ौसिन के अहाते की झाड़ू निकाल आये और उसे साफ स्वच्छ करके फिर महाराज के समीप आकर बोले—"कहिये, अब मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

अभय कुमार और महाराज—दोनों उसके इस विचित्र प्रायश्चित्त को देखकर दाँतों तले उँगली दबा रहे थे। उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज बोले—"मैं चाहता हूँ कि आप अपनी एक सामायिक का फल मुझे बेच दें। इसके बदले में आपको मैं सोने के साठ ढेर—जो पहाड़ के बराबर हैं, देने को तैयार हूँ।"

यह सुनकर श्रावक को हँसी आ गई। तब उत्तेजित होकर महाराज ने कहा—"यदि एक सामायिक के बदले इतना धन भी अपर्याप्त हो तो मैं आपको अपना पूरा राज्य भी देने को तैयार हूँ। कहिये, अब तो देंगे न ?"

पूणिया श्रावक तब और जोर से हँस पड़ा। निराश होकर महाराज बोले—"अब तो देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। यदि मुझ पर कृपा करके आप एक सामायिक का फल दे सकते हों तो दे दीजिये।"

फिर गम्भीरता-पूर्वक श्रावक ने उत्तर दिया—"राजन् ! सामायिक का फल तो उसी को मिलता है, जिसके पास सामायिक हो। फल प्राप्त करने की अपेक्षा आप सामायिक को ही यदि प्राप्त करने की कोशिश करेंगे तो आपको निश्चित सफलता मिल सकेगी; अन्यथा नहीं।"

"अच्छी बात है। यदि आप सामायिक का फल नहीं बेचना चाहते तो न सही; सामायिक ही बेच दीजिये। मुझे तो सिर्फ एक सामायिक ही चाहिये।" महाराज ने अपना प्रस्ताव पेश किया।

"महाराज ! सामायिक ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो बेची या खरीदी जा सकती हो। सामायिक का सम्बन्ध समभाव से है, सोने-चाँदी के ढेरों से नहीं ! आप अपने मन को समभावी बनाइये; इतना कि किसी के प्रति जरा भी अन्याय न हो और यदि हो भी जाय तो उसकी क्षतिपूर्ति करके तुरन्त प्रायश्चित्त करने को तैयार रहिये; जैसा कि मैं रहता हूँ। कल पड़ौसिन का आधा उपला चूल्हे में जल गया तो इस अन्याय का परिमार्जन करने के लिए अभी-अभी मैं पड़ौसिन के अहाते की सफाई करके आया हूँ। ऐसा करने से मन में जो शान्ति का अनुभव होता है, वह सचमुच अमूल्य है।" श्रावक का यह उत्तर था।

महाराज बोले—"धन्य है, आपको ! जिनका जीवन इतना पवित्र है। जिसका जीवन पवित्र है, वास्तव में उसी की सामायिक आदर्श है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।"

ऐसा कहकर महाराज उठ खड़े हुए। अभय कुमार ने भी श्रावक को प्रणाम किया और फिर अपने पिता जी के साथ राजमहल की ओर चल पड़े।

इस घटना से आप भली-भांति समझ गये होंगे कि आदर्श सामायिक कैसी होती है और जीवन-शुद्धि से उसका कहाँ तक सम्बन्ध है।

उपसंहार : अन्त में मैं यही कहना चाहता हूँ कि आप जो सामायिक करते हैं, उसमें किसी प्रकार की दीनता, हीनता व भय, लोक- लाज आदि न हो; विशुद्ध कर्त्तव्य से प्रेरित होकर

चौदह :

मानव और समाज

मनुष्य के शरीर को धक्का देकर चलाने वाली आत्मा है; तब तक समाज है, समाज व्यवस्था है। समाज का निर्माण मनुष्य ने ही किया, परन्तु बहुत-से उसके कानून मनुष्य का गला भी तो आज तराश रहे हैं! ये कानून इन्सान का गला क्यों तराश रहे हैं? इसको समझने के लिए मानव और समाज पर चिन्तन करना जरूरी हो जाता है। —सं०

समाज-शास्त्र के विद्वानों ने 'समाज' शब्द का अर्थ 'समुदाय' बताया है। 'समाज' शब्द में सम' मूल धातु है, जिसका अर्थ है—समानता; अर्थात्—एक के साथ दूसरों की बराबरी, और दूसरों के साथ एक की बराबरी। मनुष्य को समाज की इकाई माना गया है, इसलिए मनुष्य के दैनिक आचरण का समाज पर

तदरूप प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को यदि हम व्यक्ति और उसकी परछाई की दृष्टि से देखें तो भली-भांति समझ में आजाएगा कि मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलाप की छाया समाज पर पड़ती है।

इससे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का प्रत्येक क्रिया-कलाप समाज के हित और अहित को ध्यान में रखकर ही होना चाहिए। चोरी के द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाला मनुष्य यदि यह समझे कि मेरी क्रिया का असर मुझ अकेले तक ही रहेगा और दूसरे इससे अछूते रहेंगे, ऐसा समझना उसकी भयंकर भूल है। यह माना कि वह अपनी और अपने परिवार की पूर्ति के लिए चोरी जैसा दुष्कर्म करता है और किसी अवसर पर पकड़े जाने पर न्यायालय द्वारा कारावास का वन्दी भी वन जाता है, परन्तु उसकी इन सव क्रियाओं का अच्छा या बुरा फल समाज के दूसरे मनुष्यों पर भी समान रूप से पड़ता है।

देखिए, जिसके घर चोरी हुई, उस वेचारे को धन-सम्पत्ति की हानि हुई और उसके परिवार पर भी अचानक दरिद्रता की आपत्ति आ गई, और साथ ही चोर के घर वालों में बिना परिश्रम किये पेट भरने का दुर्गुण भी समा गया। इतना ही नहीं, चोरी के दूपण का निवारण करने के कारण पुलिस और न्यायालय को भी इसमें भाग लेना पड़ा।

दूसरी ओर एक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और धन से स्कूल या औषधालय खुलवाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि आस-पास के गाँव और नगर के अनेक वच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं,

और अनेक रोग-पीड़ित प्राणियों को औषधालय से स्वास्थ्य लाभ मिलता है।

अब आपकी समझ में भली-भाँति आ गया होगा कि एक मनुष्य के अच्छे-बुरे कार्य का दूसरों पर कितना अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है, और दूसरों की भलाई या बुराई में एक व्यक्ति के क्रिया-कलाप किस सीमा तक शामिल हो सकते हैं, तथा मनुष्य का समाज के साथ कितना निकटतम सम्बन्ध है।

समाज के शाब्दिक अर्थ 'समुदाय' की परिभाषा में गाय, भैंस, गधा इत्यादि पशुओं के सामूहिक विचरण को समाज या समुदाय की संज्ञा दी जा सकती है, परन्तु मनुष्यों के समुदाय और पशु-समुदाय में बड़ा अन्तर है। मनुष्यों की भाँति पशु भी इकट्ठे रहते हैं, साथ-साथ चरते हैं और विचरण भी करते हैं, परन्तु बुद्धि के अभाव में वे एक-दूसरे की मनोभावना का अनुभव नहीं कर पाते। समुदाय में यदि कोई पशु भूखा है या बीमारी के कारण खिन्न चित्त है, अथवा पिटने की यातना सह रहा है, तो दूसरे निकटस्थ पशुओं में अपने साथी के प्रति सहानुभूति और संवेदना नहीं होती, जैसी कि मानव समुदाय में होती है। बस, इसी बौद्धिक चेतना की कमी के कारण इन्सान और हैवान में अन्तर दिखाई देता है।

समाज की रचना कब और कैसे हुई? इसके बारे में अनेक मत और मान्यताएँ हैं। जैन-धर्म की दृष्टि में समाज की रचना आदि काल से नहीं है, बल्कि स्त्री-पुरुष के साहचर्य से मानी गई है। परन्तु वह साहचर्य पति-पत्नी के दाम्पत्य जीवन की भाँति नहीं था। जीवन के व्यवहार में स्त्री और पुरुष एक-दूसरे

के सहयोग पर निर्भर नहीं थे, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दोनों को अपने-अपने साधन जुटाने पड़ते थे। यदि पुरुष के सामने भूख की पीड़ा आई है, तो वह उसे अपने ही श्रम और पुरुषार्थ से निवारण करेगा। इसी प्रकार यदि स्त्री बीमार है या भूखी है, तो औषधि, उपचार और उदर-पोषण के लिए उसे स्वयं व्यवस्था करनी पड़ेगी।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक पुरुष और एक स्त्री का सहचारी जीवन होने पर भी दोनों में एक-दूसरे के प्रति संवेदना क्यों नहीं थी, और संवेदना न होने पर क्या दोनों के बीच स्वार्थ और द्वेष की दुर्भावना नहीं थी? स्वार्थ और द्वेष की उत्पत्ति उस समय होती है जब व्यक्ति के मन में किसी पदार्थ विशेष के प्रति आसक्ति होती है और आसक्ति के कारण उस पदार्थ को ग्रहण करने और अपने पास सुरक्षित रखने का विचार पैदा होता है; इस विचार को संग्रह-भावना कहते हैं। यह भावना ही स्वार्थ और द्वेष का मूल स्रोत है। उन दोनों स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे के प्रति संवेदना न होने का मूल कारण यह समझना चाहिए कि वे दोनों अपने निजी साधन और पुरुषार्थ से, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लिया करते थे। उनके साधन और पुरुषार्थ में हीनता के कारण उत्पन्न नहीं होते थे, साथ ही जीवनोपयोगी पदार्थों की विपुलता और सुलभता थी, इसलिए संग्रह की भावना को आश्रय नहीं मिल सका।

परन्तु समय परिवर्तन के कारण जब मनुष्य में पदार्थों के नियमित उपभोग से बढ़कर अनियमित उपभोग की भावना जाग्रत हुई, तो जीवनोपयोगी पदार्थों का संग्रह और संरक्षण होने

लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि पदार्थों की कमी हुई और मनुष्य के साधन विफल होने लगे। साधनों की विफलता से ईर्ष्या जाग्रत हुई और उसने द्वेष को जन्म दिया। स्वार्थ के संरक्षण में द्वेष पनप उठा और उसने परस्पर के सुख पर प्रहार किया, जिससे प्रेम का बंधन टूट गया और संघर्ष जाग उठा। समय की गति से जब सन्तोष का अस्तित्व स्वार्थ और संग्रह में विलीन हो जाता है, और संघर्ष की प्रेरणा से संकीर्णता को पनपने का अवसर मिल जाता है, तो दया और उदारता मानव हृदय से अलग हो जाती हैं। दो के बीच संघर्ष हो जाने पर बलवान विजयी होता है. और निर्बल पराजित ! इस पराजित दशा में बलवान के अत्याचारों से बचने के लिए निर्बल ने संरक्षण की आवश्यकता अनुभव की, और तदनुसार बलवान ने उसे संरक्षण प्रदान कर दिया। आश्रयदाता और आश्रित के रूप में वे दोनों मिल-जुलकर रहने लगे; और इस प्रकार समाज व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ।

परन्तु स्वार्थ, संग्रह और संघर्ष की संकीर्ण भावनाएं अभी तृप्त नहीं हुईं ; इधर छोटे से स्वार्थों के कारण दो व्यक्तियों के बीच संघर्ष पैदा हुआ था, उधर राज्य-विस्तार की तृष्णा ने दो राष्ट्रों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी और पराजित राज्य पर अपना प्रभुत्व रखने के लिए विजेता राज्य ने दंड-विधान बनाया और उस विधान को 'हूंकार' नाम से विख्यात किया। इस दंड-विधान के अनुसार जो अपराधी दंडित किये जाते थे, वे 'कुलगर' कहलाते थे। इस प्रकार के कुलगरों की संख्या पन्द्रह बताई गई है। विधान में आवश्यक परिवर्तन हो जाने पर 'मन' नामक दंड द्वारा अपराधी दंडित किये जाने लगे और आगे

चलकर 'धिक्कार' नामक दंड का प्रयोग किया गया। आखिरी 'कुलगर' (अपराधी) का नाम नाभी था और इसी की घटना से छोटे-बड़े गाँव और नगरी की रचना शुरू हुई। सबसे पहले 'विराट नगरी' विख्यात हुई, जो बाद में अयोध्या भी कहलाई।

हम सभी को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे प्रत्येक क्रिया-कलाप पर प्रकृति नियंत्रण रखती है और समय-समय पर भले-बुरे का ज्ञान भी कराती है। लेकिन मनुष्य के मन और मस्तिष्क में जब स्वार्थ और संग्रह की भावना भर जाती है, तब उसके ज्ञान-चक्षु प्रायः बंद हो जाते हैं। उस समय वह प्रकृति के नियंत्रण की भी उपेक्षा कर देता है और इस बात को भी प्रायः भूल जाता है कि जिन भौतिक सुख-साधनों का संग्रह करने में वह लग्नशील है, वे सब प्रकृति के पदार्थ हैं और दूसरे प्राणियों को भी उन सुख-साधनों के उपभोग का समान अधिकार है।

जब मानव-मन में दूसरों के समान हकों को हड़पने की अनाधिकार चेष्टा का उदय हो जाता है, तब वह प्रकृति के नियंत्रण की अवहेलना करके विनाश-मार्ग की ओर अग्रसर होता है। ठीक, ऐसे ही विनाश के अवसर पर भगवान् ऋषभदेव ने जन्म लिया। उन्होंने सत्-ज्ञान के प्रकाश से मानव-मन के अन्धकार को दूर किया और मनुष्य को समाज तथा सामाजिकता का सही पाठ पढ़ाया। सत्-कर्म और धर्माचरण की ओर मनुष्य की रुचि को प्रेरित करते हुए भगवान् ने बताया कि सत्-कर्म करने और धर्माचरण में निमग्न रहने पर ही मानव-जीवन सफल बन सकता है।

उन्होंने समाज को तीन प्रकार की शिक्षाएँ भी दीं—१. असि, २. मसि, और ३. कृषि।

(१) *असि* (शस्त्र-ज्ञान)—इस ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य तलवार आदि शस्त्रों के प्रयोग को सीख लेता है, जिसके द्वारा वह अपने तथा निर्बलों की रक्षा करता है।

(२) *मसि* (पाठन और लेखन ज्ञान)—इस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य शिक्षित हो जाता है और पढ़-लिखकर अपने विचार आसानी से व्यक्त कर सकता है।

(३) *कृषि* (कृषि ज्ञान)—इस ज्ञान की जानकारी हो जाने पर मनुष्य खेती-बाड़ी, पशु-पालन तथा कूप-ताल आदि उपयोगी योजनाओं को पूरा करता है।

उपर्युक्त तीनों शिक्षाओं से समाज को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि शिक्षा-प्रसार के द्वारा समाज की अज्ञानता, अन्ध-विश्वास तथा अनाचार जैसे दोष दूर हुए और नागरिक ज्ञान की जागृति हुई। इस जागरण से व्यर्थ समय बिताने वाले बेकारों में परिश्रम की भावना का उदय हुआ और विभिन्न कार्यों में लग जाने पर बेकारों को काम मिला, दीन-दुखियों की रक्षा तथा सहायता के विचार ने मनुष्य में दूसरों के प्रति दया और संवेदना के अंकुर पैदा किये और कृषि-ज्ञान के विस्तार से खेती-बाड़ी की उन्नति हुई, पशु-पालन से मनुष्य में पशुओं के प्रति दया-धर्म का संचार हुआ।

अरस्तू नामक विदेशी समाज शास्त्री ने समाज रचना के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त किया है कि स्त्री-पुरुष और बच्चे-

बूढ़ों से युक्त एक कुटुम्ब, समाज का ही छोटा रूप है। जिस प्रकार कुटुम्ब की उन्नति और सुदृढ़ता के लिए मनुष्य में समता, स्नेह और संवेदना होना जरूरी है—उसी तरह गाँव, नगर और प्रान्तों की उन्नति के लिए वहाँ के मानव-समुदायों में एक-दूसरे के प्रति समता भाव और पारस्परिक प्रेम होना जरूरी है; क्योंकि गाँव, नगर और प्रान्तों के संगठित हो जाने पर ही किसी राष्ट्र का संगठन और उत्थान निर्भर है।

इस कथन के सारांश में यही कहना पर्याप्त होगा कि मानव, समाज का अविच्छिन्न अंग है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी जीवन-चर्या को सामाजिक नियमों के अनुसार ही बितावे, जिससे समाज स्वस्थ और संगठित बना रहे।

सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन में कभी-कभी बड़ी-बड़ी बाधाएं उत्पन्न हो जाया करती हैं। उन बाधाओं से हमें घबराना नहीं चाहिए, बल्कि साहस के साथ उनका स्वागत करना चाहिए। स्थूल दृष्टि से देखने पर छोटी-से-छोटी बाधा का परिणाम—'चिन्ता' होता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर छोटी-से-छोटी परेशानी हमारे साहस और कर्त्तव्य की परीक्षा के लिए पैदा होती है। इसलिए परेशानी के समय हमें अपने नियमित कर्त्तव्य-पालन में तनिक-सी भी शिथिलता नहीं लानी चाहिए। यदि किसी बाधा के फलस्वरूप हमारे कार्य-क्रम में 'शिथिलता' को प्रवेश का मौका मिल गया, तो आगे चलकर वह अंगस्थान 'शिथिलता' एक विशाल रूप धारण कर लेगी; और कर्त्तव्य-मार्ग में एक बड़ी चट्टान बन कर हमारा मार्ग अवरुद्ध कर देगी।

दिनांक :
१३—८—५६

स्थान :
बेंगलोर

पंद्रह :

जीवन-निर्माण

> जीवन का निर्माण इच्छाओं की चिता जला कर, दैहिक सुख को भुला कर तथा, मन, वचन व कर्म की एकता से ही हो सकता है। जीवन-निर्माण का प्रश्न फिर भी अधूरा है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ आध्यात्मिक उपलब्धियों से प्राप्त हैं, तो जीवन का निर्माण निश्चित ही है। —सं०

आज जिस विषय की चर्चा सुनने के लिए आप एकत्रित हुए हैं, वह गम्भीर अवश्य है, परन्तु जीवन की सर्वांगीण सफलता के लिए यदि हम आज के चर्चा तत्त्व को अपने दैनिक आचार-विचार में प्रयोग करने का सच्चा संकल्प कर लें, तो कोई ऐसा कारण दिखाई नहीं देता कि जीवन साफल्य का अभीष्ट हमें दुर्लभ और दुष्कर प्रतीत हो।

हाँ, तो वह विषय है—"मानव-जीवन का निर्माण किस प्रकार हो ?" आज के भौतिकवादी युग में जीवन-निर्माण के अनगिनत प्रयोग हैं और जिस प्रयोग को मानव ने अपनी सुख समृद्धि के अनुकूल पा लिया है, वही प्रयोग उसकी जीवन-चर्या का अभीष्ट बन गया है। परन्तु अनगिनत प्रयोगों में से हमें तो केवल एक प्रयोग का चुनाव करना है।

धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने और धार्मिक चर्चाओं को सुनने से आप सभी को भली-भाँति ज्ञात हो गया होगा कि मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास के सम्बन्ध में विभिन्न योजनाओं की ओर लक्ष्य करते हुए विश्व-वंद्य भगवान् महावीर ने संसार के सामने एक यक्ष प्रश्न रखा है। वह प्रश्न है—"तुम इस संसार में क्यों आए ! तुम्हें क्या करना है !! और जीवन को किस प्रकार सफल बनाना है !!!"

संसार, मानव-जीवन की एक लम्बी और दुगर्म यात्रा है, जिसे सफलता-पूर्वक पार करने के लिए कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व नाम के दो प्रकाश स्तम्भ हमारे मार्ग-दर्शन की सुविधा के लिए हैं। जीवन की राह में इन्हीं दोनों प्रकाश स्तम्भों की सहायता से हम नर से नारायण बने और जीवन के अलौकिक महत्त्व को पा-कर मानव-जाति का कुछ हित भी कर सकें। परन्तु कभी-कभी जीवन-यात्रा में हमारी गति सहसा रुक जाती है, और हम इस रुकावट का कारण भी नहीं जान पाते। रुकावट के बाधक कारणों की यदि खोज करते हैं, तो फल यह मिलता है कि जीवन-निर्वाह की समस्याओं में उलझ जाते हैं और उस उलझन की दशा में यह विचार पैदा होता है कि छुटकारे के लिए क्या करें ! क्या न करें !!

आखिर, ये सब उलझनें क्यों पैदा होती हैं ? खोज करें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि जीवन की राह में 'कर्त्तव्य' और 'उत्तरदायित्व' नाम के जो दो प्रकाश स्तम्भ हैं, उनका सांकेतिक प्रकाश हमारी किसी उपेक्षा भावना के कारण हम से अलग रहा और फलस्वरूप हमारे कदम विपरीत दिशा पर पड़ गए।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि—"हमारे कदमों की विपरीत दिशा कौन-सी हो सकती है?" मनन करने पर इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—"जीवन के मार्ग में चलते समय हमारी भावना में कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा और उत्तरदायित्व के प्रति आस्था नहीं थी।" आप सभी जानते हैं कि वही धार्मिक कृत्य फलदायक होता है, जिसमें प्रयोजन पूर्ति की प्रेरणा शामिल होती है। धार्मिक कृत्य में प्रयोजन की अपेक्षा और उपेक्षा का सहज उदाहरण किसी रोग के निवारण के लिए औषधि सेवन की उपयोगिता से देखिए—रोग लक्षणों के अनुसार रोगी को उपयोगी औषधि तो दे दी गई और सेवन विधि भी समझा दी गई, परन्तु रोगी ने परहेज की पाबन्दी को नहीं माना, जिसका परिणाम हुआ—औषधि की निस्सारता और जीवन की हानि ! बस, ऐसी ही ना समझी के कारण हमारी जीवन-यात्रा में प्रायः जीवन और मरण का घटना-चक्र अविरुद्ध गति से बढ़ता रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र के एक उदाहरण द्वारा यह तथ्य एकदम साफ है:—

"जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई।"

जिस प्रकार एक रोगी कुतिया, जिसके कान से रुधिर बह

रहा हो और वह अपंग हो तो उसे कोई पसन्द नहीं करता, सभी की निगाह में वह तिरस्कार और घृणा का कारण वन जाती है। परन्तु दूसरी ओर जब हम प्रकृति के दूसरे निर्माणों को देखते हैं, तो अपनी श्रद्धा और आकांक्षा की वलि चढ़ा देते हैं। इन उदाहरणों से आपकी समझ में आ-गया होगा कि नर से नारायण वनने का हमारा जो सत् प्रयास है, वह सांसारिक विकार-वासनाओं के कारण पूरी तरह सफल नहीं वन रहा है। सफलता न मिलने का मुख्य कारण यही है कि हमारे जीवन में सत्य और संयम का महत्त्व कम होता जा रहा है, इसीलिए हमारे प्रयत्न पूर्ण नहीं हो पाते।

इस सम्वन्ध में यदि यह कहा जाए कि हम कुनीति का सहारा लेकर और गलत दिशा को लक्ष्य वनाकर सही मार्ग पर पहुँचना चाहते हैं, तो यह विल्कुल नामुमकिन है। वही डाक्टर सफल माना जाता है, जो निदान के द्वारा रोग के लक्षणों की पहचान कर ले। लेकिन रोग-लक्षणों की सही पहचान से ही रोगी को स्वास्थ्य लाभ नहीं हो जाता; इसके लिए रोग के लक्षणों के अनुसार उपयुक्त औषधि का प्रयोग और परहेज की पावन्दी भी उतनी ही जरूरी है। ठीक, इसी भाँति हमें भी अपने जीवन रूपी जहाज की वारीकी से जाँच-पड़ताल करनी है। यदि हमारी किसी असावधानी या आलस्य के कारण जहाज में एक भी छोटे-से-छोटा सूराख रह गया, तो उसका नतीजा वड़ा भयानक होगा। संसार-समुद्र में जब यह जहाज जीवन की यात्रा के लिए चलेगा, तो उस छोटे से सूराख के द्वारा समुद्र का पानी धीरे-धीरे जहाज में भरता रहेगा, और निश्चय ही एक दिन जहाज के डूबने की भयंकर दुर्घटना भी होगी।

प्रकृति ने मनुष्य को दो नेत्र दिये हैं। एक वाह्य-चक्षु है और दूसरा आंतरिक ज्ञान का दिव्य-चक्षु है। वाह्य-चक्षु के द्वारा हम अपने जीवन-जहाज की वाहरी खरावियों को आसानी से देख सकते हैं और तदनुकूल सुधारों से उन्हें सदैव के लिए दूर भी कर सकते हैं। दूसरा जो आंतरिक ज्ञान का दिव्य-चक्षु है, उसके प्रकाश की सहायता से हम अन्तःकरण के अन्धकार, अंध-विश्वास आदि अपवादों को दूर कर सकते हैं, और जिस क्षण हमारे आन्तरिक अपवाद दूर हो जावेंगे, उसी क्षण हमारी अन्तःप्रेरणा भगवान् महावीर के वताए सत्-मार्ग की ओर प्रेरित होगी; और जीवन-जहाज निर्बाध गति से चलकर ससार-समुद्र को पार कर सकेगा।

आप देख रहे हैं कि आज विश्व में एक सिरे से दूसरे सिरे तक अशान्ति, आशंका और असन्तोष छाया हुआ है। कहीं धनी और निर्धन के वीच असमानता का वर्ग-संघर्ष है, तो कहीं दो राष्ट्रों के वीच साम्राज्यवादी खींच-तान चल रही है। निर्धनता के अभिशाप से वेचारा गरीव तो दुर्दिन की घड़ियाँ गिन ही रहा है, लेकिन धनी लोग अतुलित सम्पत्ति तथा भौतिक प्रसाधनों के मालिक होते हुए भी सुखी जीवन का अनुभव नहीं कर-पा रहे हैं। सभी ओर संकट का साम्राज्य छाया हुआ है, सभी का जीवन क्लेश और चिन्ता में जकड़ा हुआ है।

आखिर ऐसा क्यों है ! और इन महा व्याधियों से छुटकारा मिलने का भी कोई शान्तिमय उपाय है ? इतनी महा व्याधियों में फंस कर भी यदि हम उनके कारणों की खोज-बीन नहीं कर पाए, तो हमारी विचार-शक्ति का उपयोग उस व्यापारी की वुद्धि

की भाँति होगा, जो न तो लाभ व हानि के स्रोतों से परिचित है और न जिसमें आर्थिक साधनों के उद्गम की ही जानकारी है। जब हम इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि मानव जीवन की यात्रा सुगम नहीं है, तो फिर हम मौन साधे क्यों बैठे हैं? मर्यादापूर्ण जीवन प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है, और संयम प्रत्येक कार्य की आधार शिला है। मर्यादा और संयम से विहीन जीवन—नृशंसता और विभत्सता का साकार रूप है। इसलिए यह उचित ही होगा कि जीवन-मार्ग की इन रुकावटों को सदैव के लिए दूर करने के लिए हम अपने दैनिक आचार-विचार में संयम को प्रधानता दें; तभी हमारा जीवन सफल बन सकता है।

इस सम्बन्ध में तीर्थंकर भगवान् महावीर ने यह नेक सलाह दी है कि—'मानव-जीवन अमूल्य और दुलर्भ है।' भौतिक प्रसाधनों के चक्र में फंसे रहने पर यदि हम जीवन के महत्त्व को नहीं समझते हैं और आलस्य और प्रमाद में समय को यों ही गंवा देते हैं, तो यह मूखर्ता और नादानी ही होगी। खुले शब्दों में यदि कह दिया जाए कि जीवन के महत्त्व की उपेक्षा और समय के आह्वान की अवहेलना करके हम अपने हाथों जीवन का वध करना चाहते हैं। परन्तु इतना अत्याचार होने पर भी हमारी आत्मा मौन है। आत्मा किस कारण मौन है? इसकी हमें गहराई से खोज करनी है। इस समस्या के समाधान के लिए इस अवसर पर एक दृष्टान्त पेश करना चाहूँगा—

दो मित्र थे—दोनों में घनिष्ठता होते हुए भी कारण वश वे एक-दूसरे से भिन्न दिखाई देते थे। पहला मित्र भोग-विलासी और एशोइशरत का गुलाम था, जबकि दूसरा अपनी जीवन-चर्या

को धर्म और सन्त संगति से विता रहा था; इसी गति क्रम से दोनों की दिन-चर्या व्यतीत हो रही थी। कुछ समय के बाद वे ईद के चाँद की भाँति एक-दूसरे से मिलते हैं और एक-दूसरे को विपरीत अवस्था में देखकर चकित रह जाते हैं। 'मुख' के बारे में एक मनोवैज्ञानिक का कथन है कि—'विचार और भावनाओं का परिचय मनुष्य के मुख से मिल जाता है।' इस सम्बन्ध में एक विदेशी विचारक का कथन भी यहाँ युक्ति संगत ही है—"Face is the index of the person." जीवन-चर्या के प्रश्नोत्तर में साधु-मित्र ने कहा कि—'मेरी आज की दशा अचरज की वस्तु नहीं है, बल्कि संयम और साधना का फल है, जिसे मैं एक लम्बे अर्से से कर रहा हूँ।' इसे सुनकर भोगी-मित्र मन ही मन पछताया कि—'मैंने भी कुछ धर्म किया, परन्तु उसका फल प्रभावकारी नहीं हुआ।'

दोनों मित्रों की जीवन-चर्या के अन्तर से भली-भाँति जाना जा सकता है कि सफल जीवन के लिए निष्काम भोग की जरूरत है। जीवन में संयम और नियम का वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि समुद्र में ठहरे जहाज के लिए लंगर का। अगर जहाज के लंगर मजबूत नहीं हैं, तो समुद्र की लहरें उसे डाँवाडोल कर सकती हैं। साधु-मित्र के जीवन में क्या विशेषता थी, जिस पर भोगी-मित्र चकित हुआ? उसकी जीवन-चर्या में संयम, साधना और एकाग्रता थी। एकाग्रता एक अलौकिक गुण है, जो कर्त्तव्य-परायणता और कार्य-दक्षता के लिए प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों को एक-साथ शुरु करने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ और कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं,

और कोई काम पूरा नहीं हो पाता। बड़े प्रयोजनों की सफलता के लिऐ हमें सबसे पहले एकाग्रता का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। हम सभी ने यह अनुभव किया है कि सुख के समय हम ईश्वर को प्रायः भूल ही जाते हैं, और जब कोई विपत्ति हमारे सामने आ जाती है, तो उसके तत्काल निवारण के लिए जी-जान से प्रभु-स्मरण की दुहाई देते हैं। परन्तु ईश्वर की कृपा इस प्रकार की नाट्य-लीला से नहीं प्राप्त होगी, उसके लिए तो संयम और साधना की ही जरूरत है।

अब आपने भली-भाँति समझ लिया होगा कि भोगी-मित्र को कुछ न किये धर्म-कार्य का लाभ क्यों नहीं मिला? इसका उत्तर स्पष्ट है—'उसने दो भिन्न कार्यों को एक-साथ किया था; अर्थात्—भोग और भक्ति का एकीकरण, जो बिल्कुल ही असम्भव है। दूसरी ओर साधु-मित्र को जीवन में सफलता इसलिए मिली कि उसकी दैनिक जीवन-चर्या में धर्म-साधना और ईश्वर आराधना की प्रधानता थी और भौतिक भोगों के प्रति वह सदैव उदासीन रहा था। उसने अपनी जिन्दगी को संयम, साधना के सहारे बिताकर जीवन-निर्माण की कल्पना को साकार रूप में देखा था।

'मानव-जीवन और उसका समुचित निर्माण'—इस गम्भीर प्रश्न को हल करने के लिए आत्म-शुद्धि और आत्मानुभूति की हमें जरूरत है। जब तक हमारी आत्मा शुद्ध नहीं है और उसमें किसी विषय के अनुभव की भावना विकसित नहीं होती, तब तक हमें आत्मा का आदेश नहीं मिल सकता। शुद्धि और अनुभूति से परिपूर्ण होने पर आत्मा से एक अलौकिक घोषणा निकलती है—

"रे मानव, अपने स्वरूप को पहचान; और तदनुसार आचरण कर !" परन्तु हम कुम्भकरण की गहरी नींद में वेहोश सोए हुए हैं। इस आत्म-घोषणा का मतलब यही है कि हम अपने स्वरूप की पहचान करें, कि हम कौन हैं? और संसार में क्यों आए हैं ? आत्म-चिन्तन करने पर इसका उत्तर मिलेगा—सद् आचरण के लिए।

अव हमें समय के मूल्य और उसकी उपयोगिता पर भी विचार करना है। समय की उपयोगिता के सम्बन्ध में ज्ञानी शास्त्रकारों ने कहा है—

"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनीयत्तइ !
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ !!"
—उत्तराध्ययन

इसका भावार्थ यह है कि—"यह कोई महत्त्व की वात नहीं कि हमने कितने क्षण व्यर्थ ही गंवा दिये, परन्तु यदि हमने एक क्षण का भी सही अर्थ में उपयोग कर लिया, तो हमारा जीवन सार्थक वन गया। वे हमारे रात और दिन सफल हैं, जो शुभ व विश्व-मंगल के लिए व्यतीत हुए हैं।

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त हमारे मुस्लिम भाइयों में प्रचलित है—जिसका तात्पर्य यह है—"खुदा एक मनुष्य को सौ वर्ष की उम्र देकर भू-लोक में जीवन विताने भेजता है, परन्तु वह व्यक्ति तीस वर्ष वाद ही दोवारा ईश्वर के पास पहुँच जाता है। इस पर ईश्वर उससे पूछता है—अरे, तुझे तो सौ वर्ष के लिए भेजा था, तू पहले ही क्यों चला आया ? वह मनुष्य कहता

है—प्रभो, पृथ्वी पर चारों तरफ स्वार्थ ही स्वार्थ दिखाई देता है। वहाँ मनुष्य अपने दुर्गुणों को देखकर दूसरों के दोषों को गिना करता है। निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए लोग परमार्थ और सेवा का दम भरते हैं और विभिन्न प्रकार की चोरी करके साहूकार बनने की कोशिश करते हैं। इन्हीं कुकर्मों को देखकर मेरा जी ऊब गया और मैंने शीघ्र ही वापस आना उचित समझा। मनुष्य की बातों पर एकाएक विश्वास न करके खुदा ने तुरन्त पूछा—"भू-लोक में जाकर तुमने किस प्रकार का जीवन बिताया?" मनुष्य ने उत्तर दिया—"प्रभो, मैंने तो शुरू से आखिर तक सत्य का ही आचरण किया, नियमों का पालन किया, खुदा की बन्दगी की, और साथ ही यथाशक्ति धर्म की साधना भी की।" लेकिन खुदा ने जब उसके बाहरी अंग-प्रत्यंगों की जाँच-पड़ताल की और उसके अन्तर्मन की परीक्षा ली तो मालूम हुआ कि भू-लोक में उसकी जीवन-चर्या अनीति और अनियमितताओं में ही बीती थी। इस दृष्टान्त से यह सारांश निकलता है कि उस मनुष्य की धर्म-साधना लक्ष्य से विपरीत थी और उसका धर्म-पालन भी नियम-संयम के विरुद्ध था। इसीलिए उसको सौ वर्ष की अवधि से पहले वापस आना पड़ा।

आखिर, जीवन की इस गहन पहेली को सुलझाने के लिए कुछ मार्गों का पालन करना जरूरी है। हमारे जीवन के दैनिक व्यवहार में सत्य और संयम का नियम-पूर्वक आचरण हो, हमारी वाणी में नम्रता और सच्चाई हो, जिससे कि सामाजिक और धार्मिक संगठन के सभी पुनीत कार्यों में हम सही तरीके से सहयोग दे सकें। मानव-जीवन में नैतिकता का महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए नैतिकता के स्तर को प्राण-प्रण से कायम

रखना चाहिए। सत्य-विचार, सत्य-वचन और सत्य-कर्म— नैतिकता के मूल आधार हैं। समाज का निर्माण मनुष्य से होता है, और राष्ट्र का निर्माण समाज से। इसलिए सबसे पहले मनुष्य का नैतिक स्तर स्थिर एवं सुदृढ़ होना चाहिए, तभी समाज और राष्ट्र का उत्थान सम्भव है।

व्यक्ति के उत्थान पर ही समाज, देश, परिवार; सबका उत्थान संभव है? व्यक्ति का उत्थान जीवन के निर्माण से होता है। अस्तु, मनुष्य पहले अपने आप में सुधर जाए, अपना निर्माण कर ले, तभी पर-निर्माण, पर-उत्थान की बात सोचे।

दिनांक : स्थान :
१०-६-५६ बेंगलौर

जीवन के अधूरे प्रश्न !

आज के मानव की मूल-भूत समस्या है—रोटी, कपड़ा और आवास !

'धर्मार्थकाममोक्षाणाम्' मनीषियों के इस सूत्र में से, हम अर्थ और काम का ही चुनाव करते हैं। तथा मनुष्य की अर्थ और काम, इस मूल समस्या पर दुनिया के सभी मत प्रवर्तकों से इसका समाधान चाहते हैं, क्योंकि मोक्ष और धर्म—ये श्रद्धा से ताल्लुक रखते हैं। इन पर यदि थोड़ी देर को विश्वास न भी किया जाए, तब भी इन्सान का काम आसानी से चल सकता है। अतः दुनिया के सभी धार्मिक नेता जीवन के मूल-भूत केन्द्रीय प्रश्नों का समाधान करें। इन्हें गैर जरूरी कह कर न टाला जाए।

—मुक्त चिन्तक
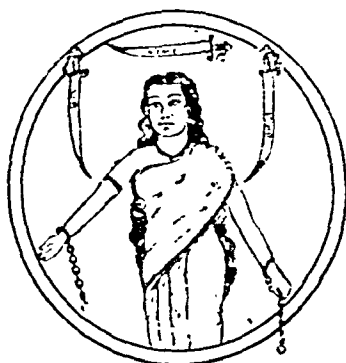
सोलह :

नारी के आदर्श

सदियों से पुरुष की दासता में रहते-रहते नारी का दम घुटा जा रहा है। परन्तु आज नारी निर्णय के उस द्वार पर खड़ी है, जहाँ धर्म, परिवार और समाज के निकम्मे आदर्शों की तलवारें लटक रही हैं! नारी, इन तलवारों के नीचे अपनी गरदन झुका दे या परम्पराओं की शृंखला को पूरी ताकत से तोड़ दे। धार्मिकों ने इस प्रश्न को अन्धकार में रखा था, परन्तु क्रान्तिकारी मुनि जी ने इस पर स्पष्ट चिन्तन किया है! —सं०

इतिहास साक्षी है कि नर की सबसे बड़ी शक्ति नारी ने त्याग, क्षमा, प्रेम, उदारता, विनय, सहिष्णुता, वीरता, सेवा और

अहिंसा आदि अपने अनेक गुणों से इस संसार को अनेक वार मृत्यु के मुख में जाने से बचाया है। उसने स्वयं को उत्सर्ग कर दिया है; मगर पुरुष-वर्ग की रक्षा की है। वह पुरुष की प्रिया भी है और जननी तथा माता भी ! इसीलिये चिरकाल से पुरुष उसकी अभ्यर्थना करता आया है। उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर आगे वढ़ता चला गया है और ऐसी ऐसी सफलताएँ प्राप्त की हैं कि अपनी उन सफलताओं को देख-सुनकर वह फूला नहीं समाता है। वास्तव में, मानव को सच्चे अर्थों में मानव वना देने का श्रेय नारी-जाति को ही है। बुद्ध, महावीर, ईसा, राम, गाँधी आदि, संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सव नारी के इन जन्म-जात गुणों को अपनाकर ही महापुरुष की पदवी को प्राप्त कर सके हैं। सच तो यह है कि नारी अपने इन गुणों, इन आदर्शों के कारण महान् है; महान् से भी महान् ! इसीलिये पुरुष की अपेक्षा नारी को समाज का अधिक उपयोगी अंग माना गया है।

मगर आज समाज का यह परम उपयोगी अंग कुछ दूषित वृत्तियों का शिकार हो गया है, पर इसके मूल में पुरुष ही है। इसीलिये उसमें जड़ता, असहिष्णुता, अनुदारता, अविनय, अविवेक आदि अनेक अवगुण उत्पन्न हो गये हैं। और इन अवगुणों का मूल कारण है—अज्ञान ! वास्तव में, अज्ञान के घटाटोप ने आज के नारी-समाज को कुछ इस तरह से ढक लिया है कि उसमें जीवन के चिन्ह निःशेप से होते प्रतीत हो रहे हैं।

आज की नारी रानी हांडा और उर्मिला को भूल गई है। वह पेशेवर नर्तकी के चरित्र की नकल करने लगी है। फ़ीम,

पाउडर पोतकर आज वह अपने लावण्य को प्रगट करना चाहती है; मगर वह यह नहीं जानती कि यह उसका वास्तविक लावण्य नहीं है। उसका असली लावण्य तो उसके गुण रूपी पुष्पों का पराग है, जो उसमें एक ऐसे असीम सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है, जिसके सम्मुख विहँसती कलियाँ भी फीकी पड़ जाती हैं। मृत्यु के देवता यम के अनुचर जिस तेज के सम्मुख ठहर सकने में असमर्थ हो जाते हैं, लंकाधिपति रावण का अहं पिघल कर भूमि में समा जाता है; उन सबका एकीकरण नारी में घुल-मिल गया है।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि आज की नारी भी अपने वास्तविक सौन्दर्य से चमके। इत्र फुलेल की महक की सहायता से नहीं, गुणों की महक से महके। गुणवती बने, कलावती बने। अपनी त्वचा के सौन्दर्य को दिखाने की चेष्टा न करे, क्योंकि यह उसका बाहरी सौन्दर्य है। शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला सौन्दर्य है। इसलिये स्वयं में गुणों का सौन्दर्य उत्पन्न करे और इस अग-जग में चमके!

नारी प्रिया है—उर्मिला जैसी! कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ते हुए अपने प्रियतम लक्ष्मण को, जिसने आगे बढ़ने की प्रेरणा दी, उन्हें रोका नहीं। चौदह वर्षों का जिसने कठिन वियोग सहन किया; मगर टोका नहीं। उर्मिला का यह त्याग, उसकी यह सहिष्णुता आज संसार में अमर है। तो, आप भी उर्मिला-जैसा त्यागमयी बनिये। स्वयं में कठिन दुःख को सहन करने की आदत डालिये। कर्त्तव्य के पथ पर आगे बढ़ते हुए अपने पुरुष को रोकिए नहीं, इसके विपरीत उसे आगे बढ़ने को प्रेरणा दीजिये।

और इस रूप में नारी का प्रिया का स्वरूप धन्य है! वह अमर है !!

त्याग और सहिष्णुता के साथ-साथ नारी में क्षमा, दया, प्रेम, उदारता, हृदय की निर्मलता, धीरता और वीरता का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार वह आदर्श प्रिया के साथ-साथ आदर्श जननी और आदर्श माता भी बन सकने में समर्थ होती है। लज्जा को नारी का आभूषण माना गया है—यहाँ पर लज्जा का अर्थ घूँघट लगा लेने से नहीं है। घूँघट तो एक बाह्य आडम्बर है, जो त्याज्य है।

वाणी, व्यवहार और शरीर संचालन में गर्व, उग्रता, कठोरता तथा टेढ़ेपन का त्याग कर नम्र, सरल, स्नेहपूर्ण, आदर-भाव-युक्त तथा मधुर होना ही विनय के गुण को धारण करना है। विनम्रता का अर्थ चापलूसी करना या कायरता नहीं है। शरीर को, मन को और वाणी को विषय-वासनाओं तथा अकर्त्तव्य की ओर से हटाये रखना ही संयम है। इसी संयम को विचारकों ने तप कहा है। इसी संयम की सहायता से नारी स्वयं को उन्नतिशील बनाती है। कातरता, असहिष्णुता, लोभ और तृष्णा के वशीभूत न होकर प्राप्त-स्थिति में सन्तुष्ट रहना ही संतोष है। संतोष से हृदय की जलन मिट जाती है। द्वेष, विषाद और क्रोध, जैसे अकल्याणकारी राक्षसों से छुटकारा मिलता है, समाज में शान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है। जिस नारी में संतोष नहीं होता, वह नारी फिर नारी नहीं, नागिन बन जाती है।

अपने प्रति कठोर या अन्यायपूर्ण व्यवहार को सह लेना ही

अक्रोध है। दंडनीय को दंड न देना और न किसी अन्य के द्वारा दिलवाना ही क्षमा है। क्षमा कायरों का नहीं; बल्कि वीरों का भूषण है। दुःख, विपत्ति, कष्ट और भय के अवसर पर भी नारी को मंगलमय कार्यों में ही लगा रहना चाहिये—यही भाव उसकी धीरता का परिचायक है। जिस प्रकार बादल आते हैं और विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार दुःख, विपत्ति, कष्ट और भय का वातावरण भी सर्वदा नहीं रहता। बादलों के समान वह भी बनता है और मिट जाता है। नारी को दुःख में उदास न होना चाहिए और न सुख में प्रसन्न; बल्कि दुःख और सुख में समभाव से रहना चाहिए।

जिस देश की नारियाँ अपने इन गुणों के प्रति सजग रहती हैं, उस देश का अकल्याण होना असम्भव है। उस देश के पुरुष-वर्ग का ह्रास कभी होगा ही नहीं। वास्तव में, इन गुणों से भरपूर नारी ही उस देश का सच्चा धन है। और यह तभी संभव है जब नारी सही अर्थों में शिक्षित हो। आज के विद्यालयों में तो शायद फैशन और अकर्मण्यता की शिक्षा दी जाती है, क्योंकि अध्यापिकाएँ भी इस दुर्गुण की शिकार हैं। अतः आज की शिक्षित नारी अपना बड़प्पन इसी बात में समझने लगी है कि वह दिनभर शृंगार करे और घर के काम-काज से हाथ न लगाये। भारतवर्ष जैसे सुसंस्कृत देश की नारियों में इन बुराइयों का घर कर जाना चिन्ता का विषय है।

तो, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ, जिसके कारण हमारा परिवार हमारा और समाज हमारा राष्ट्र, अवनति के पथ पर फिसलता चला जा रहा हो। न्याय का स्थान अन्याय ने ले लिया हो। जहाँ गुणों के स्थान पर अवगुण ही अवगुण दिखलाई पड़ने लगें

हों। ज्ञान के सूर्य की सुनहरी किरणें अज्ञान के तम में समाई जा रही हों।

इसलिए देवियो–उठो, एक बारगी ही उठो और अपने गुणों की सुगन्ध से यहाँ के दूषित वायुमंडल को निर्मल, स्वच्छ और सुगन्धित बना दो। आज का सूर्योदय यही सन्देश दे रहा है—"विदुषी बनो और देश के जन-जन में जीवन की ज्योति जगा दो। तुमने इस ज्योति को पहिले भी प्रज्वलित किया है, तो आज भी प्रज्वलित करो। तुम नारी हो, नर की महिमामयी शक्ति!"

मैं अभी नारी के आदर्शों की कुछ बातें कह चुका हूँ। परन्तु नारी-जीवन से सम्बन्धित एक प्रश्न शेष रह जाता है। यदि इस पर कुछ न कहा जाए तो बहुत संभव है कि विषय निरूपण अधूरा-सा ही रह जाए! वह प्रश्न है—विवाह का। आज की विवाह पद्धति क्या है? समाज में प्रचलित परम्पराओं के अनुसार, एक पुरुष का नारी को साहचर्य प्राप्त हो जाना! बस! साहचर्य प्राप्त हो जाना महत्त्व पूर्ण नहीं है। महत्त्व-पूण तथ्यात्मक सत्य है विवाह के द्वारा दो आत्माओं का मिलन। स्नेह का जो सूत्र एक बार बन्धा है, वह जीवन पर्यन्त अक्षुण्ण बना रहे। सन्देह और अविश्वास की ठेव के कारण कच्चे घड़े की तरह टूट न जाए।

जहाँ एक-दूसरे के जीवन को पढ़ लिया जाता है, हृदय को स्पर्श कर लिया जाता है—वहाँ सन्देह, अविश्वास और उपालम्भ व उपेक्षा का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। तो ये सब बातें, सब उलझनें, सब गुत्थियां प्रेम विवाह के द्वारा या समाज में प्रचलित विधि-निषेधों के द्वारा सुलझ सकती हैं, हल हो सकती है?

किस प्रणाली से समस्या का उन्मूलन हो सकता है? यह प्रश्न काफी वजनदार है। फिर भी दोनों प्रणालियों पर विचार तो करना ही है।

सामाजिक विधि-निषेधों के आधार पर रात-दिन जो विवाह शादी होते हैं, उसके दुष्परिणाम से नारियों की बढ़ती हुई आत्म-हत्याएँ, आँखों देखा प्रमाण है। फिर प्रश्न होता है, क्या सामाजिक पद्धति से विवाह होना ही इन आत्म-हत्याओं में निमित्त है? प्रश्न के उत्तर में मुझे निवेदन करना है—नहीं! एकान्त यह बात नहीं है। परन्तु मन न मिलने, स्वभाव न मिलने और विचार न मिलने तथा लड़की के अभिभावकों ने दहेज कम दिया है तो ये सब कारण निमित्त बनते हैं। स्वभाव न मिलना, विचार न मिलना, मन न मिलना, ये सब बातें स्वाभाविक हैं। इन स्वाभाविक तथ्यों को लेकर नाना उपालम्भों की मार से उसे निरन्तर आहत किया जाता है। परिणाम क्या होता है—नारी के घुटन की एक दिन पराकाष्ठा हो जाती है तो वह आत्म-हत्या के अन्तिम हथियार को काम में लाती है। ये हैं हमारे समाज के पाशविक विधानों के मधुर फल!

दूसरी ओर प्रेम-विवाह सफल ही होते हैं, यह भी गलत है। प्रेम-विवाह आदर्श साबित हो सकते हैं; परन्तु इसमें वासना का क्षणिक आवेग न हो। मोह का अन्धापन निकल जाए तब। पुरुष नारी के और नारी पुरुष के जीवन को अच्छी तरह से पढ़ लेती है, समझ लेती है, और विचार-साम्य स्थापित हो जाता है तो फिर वह मिलन अमर मिलन हो जाता है। और इस दिशा में मेरा स्पष्ट चिन्तन है कि अगर नारी ने पुरुष के और पुरुष ने नारी के जीवन के अन्दर झाँक कर देख लिया, विश्वास और

प्रेम की गहराई को नाप लिया है तो इस अवस्था में प्रेम-विवाह होना आवश्यक है। प्रेम और विश्वास को नाप लेने पर भी यदि समाज के विधि-निषेधों की, जाति और धर्म की बाधा है तो इन सब बेहूदा परम्पराओं को तोड़ देना चाहिए। लेकिन मैं यहाँ भी यह साफ तौर पर कह देना चाहता हूँ कि केवल उत्तेजना वश अगर समाज, धर्म, परिवार और जातीय बन्धनों को तोड़ दिया, तो, उत्तेजना का नशा उतरने पर यथार्थ जीवन की चट्टान से एक दिन टकराकर नारी और पुरुष का जीवन चकनाचूर हो जाएगा। अमृतमय जीवन का स्वप्न विषमय बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति में एक-दूसरे का जीवन निर्वाह असंभव हो जाएगा। जिन्दगी भार-भूत हो जाएगी और तब परम्पराओं की पूजा करने वाले, आरती उतारने वाले, प्रेम-विवाह पर हँसेंगे।

नारी अपना जीवन साथी किसे चुने ? यह प्रश्न उसका अपना व्यक्तिगत प्रश्न है। पर आज तो अभिभावकों ने इसका जिम्मा अपने ऊपर ले लिया है। यदि इस प्रश्न को हल करने का जिम्मा उसी पर डाला जाए, तो वह अपने जीवन साथी का चुनाव अधिक बुद्धिमत्ता एवं योग्यता पूर्वक कर सकती है।

अस्तु, अपने भाषण के उपसंहार में मुझे फिर कहना है— "नारी उठ ! अपनी शक्ति को पहचान, परम्पराओं की शृंखलाओं को तोड़ दे। धर्म, परिवार, समाज और जातियों की तलवारों के आगे अपनी गरदन मत झुका ! नया दृष्टिकोण लेकर जिन्दगी का रास्ता तय कर ! परन्तु यह अमृत कहीं विष न बन जाए। अतः खूब सोच-समझ कर आगे बढ़ !" मानव मात्र का एक ही संलक्ष्य होना चाहिए—वह दूषित मान्यताओं के महलों का ध्वंस कर नई निर्माण चेतना के नये महल खड़े करे।

दिनांक :
३१–१–५७

स्थान :
मुजफ्फरपुर (महिला सम्मेलन)
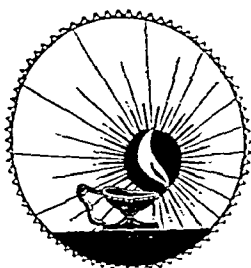
सत्तरह :

धर्म की अमर ज्योति

निरा भौतिकवादी मनुष्य—तृष्णा, ईर्ष्या, काम और मोह आदि की आग में जलता-जलता एक दिन समाप्त ही तो हो जाता है। अतः अज्ञान के घने अन्धकार में भूले-बिसरे मानव के लिए धर्म की अमर ज्योति चाहिए, क्योंकि इस प्रकाश में वह अपने जीवन के सही पथ का निर्णय, हृदय की आंखों से कर सकता है। मुनिजी अपने भाषण में इसी सत्य का संदर्शन कराना चाहते हैं। —सं०

धर्म जीवन का पथ-प्रदर्शक दीपक है। "*दीवे व धम्म समए!*" अर्थात्—"अज्ञान, अन्धकार से परिव्याप्त जीवन-पथ में मार्ग प्रदर्शन करने के लिए धर्म ही सदा प्रकाशमान दीपक है।" उसी की सहायता से मानव अपने वास्तविक कर्त्तव्य-मार्ग पर अग्रसर होने में समर्थ होता है। दीपक स्वयं प्रकाशित होता है तथा

दूसरों को भी प्रकाशित करता है। ज्ञानी स्वयं धर्म-पथ का अनुयायी बनता है, साथ ही वह दूसरों का भी मार्ग-प्रदर्शन करता है। धर्म, ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित शाश्वत अमर ज्योति है। वह स्वयं पावन है एवं दूसरों को भी पावन करने की उसमें क्षमता है। धर्म के प्रकाश के बिना जीवन के समस्त क्रिया-कलाप निरर्थक हैं। वैसे तो सूर्य, चन्द्रादि ज्योतिपुंजों के प्रकाश के बिना हम अपने बाह्य जगत् में कुछ कर नहीं पाते, किन्तु उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाश पुंज तो धर्म रूपी ज्ञान दीप है जो हृदय में प्रज्वलित रहता है। उस आन्तरिक प्रकाश के बिना सब ओर अंधेरा है। आज मानव-जाति ने विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है। यहाँ तक कि प्रकृति के अनेक तत्वों पर भी विजय प्राप्त करने की होड़ जारी है। उसने रात को दिन बनाने वाले अनेक कृत्रिम प्रकाश के उपकरणों का आविष्कार किया है। किन्तु फिर भी आज विश्व में परस्पर अविश्वास, आशंका एवं ईर्ष्या-द्वेष ही परिव्याप्त हैं। मानव इतनी भौतिक प्रगति के पश्चात् भी सुख-शांति से बहुत-बहुत दूर ही है। इसका मुख्य कारण यही है कि उसने अपनी आत्मा को प्रकाशित करने वाली अन्तःज्योति के दर्शन नहीं किये। वह अन्तःज्योति 'धर्म' है। उस अलौकिक प्रकाश की किरणों की उपलब्धि धर्मानुसरण एवं साधु-सन्तों के सत्संग द्वारा ही संभव है।

धर्म के साथ दीपक का सम्बन्ध जोड़ा है, तो इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। दीपक दो प्रकार के होते हैं। एक सदा स्थिर एवं अविचल रहने वाला, जिस पर सदा ही आश्रित एवं निर्भर रहा जा सकता है। दूसरा अस्थिर अथवा समयावादी एवं भौतिक उपकरणों पर आधारित दीपक, जो

नित्य प्रति के जीवन में मार्ग को दिखाना है, किन्तु जिस पर सदा-सर्वदा निर्भर नहीं रहा जा सकता। महा कवि मिल्टन ने अपने महान् काव्य "पैरेडाइज लास्ट" (स्वर्ग का खोया जाना) में लिखा है कि 'मानव के मानसिक अस्तित्व का अनुपात यदि है तो उसकी तुलना में उसका भौतिक अस्तित्व केवल एक ही है। इस दशमांश भौतिक जगत् को भौतिक साधनों की सहायता से हम प्रकाशित कर सकते हैं। किन्तु उनसे नौ गुने व्यापक मनोरंजन को प्रकाशित करने की क्षमता तो धर्म की अमर ज्योति में ही है।'

आज हमारे देश में, अपने आदर्शों एवं ऋषि-महर्षियों व साधु-सन्तों के दिखाई गई धर्माचरण युक्त जीवन प्रणाली का परित्याग करके भौतिक प्रगति की चकाचौंध दिखाने वाली पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अन्धानुकरण, चरम सीमा पर है। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारत की सम्पदा वास्तव में उसकी दैवी सम्पत्ति ही है, जिसके कारण उसका नाम सदा ही देश विदेश में आदर सहित लिया जाता रहा है। भारत धर्म-प्रधान देश है। यह तपोभूमि है, जिसे कि यह गौरवमय नाम उदात्त एवं आदर्श आत्माओं के सुन्दर जीवन द्वारा प्राप्त हुआ है। उन्होंने भौतिक सामग्रियों की तुलना—रात में क्षण भर चमकने वाले जुगनुओं से की है। इसी भांति भोग भी दूर से क्षणिक आकर्षक युक्त जान पड़ते हैं, किन्तु उनकी जगमगाहट क्षण-भंगुर है, यह तो उनके सेवन के प्रत्यक्ष अनुभव के पश्चात् ही समझ पाते हैं। भोग की अंतिम परिणति क्या है? पतन और विनाश! सृजन करना, निर्माण करना, कुछ बनाना, उसका काम नहीं। यह कार्य तो चिरस्थायी धर्म रूपी दीपक ही कर सकता है। उसकी

सुरक्षा एवं चिर-उपलब्धि के लिए हमें अपने नित्य प्रति के जीवन की क्रियाओं-प्रक्रियाओं व गति-विधियों में संशोधन एवं परिमार्जन करना है।

धार्मिक क्रियाएँ नियमित एवं हृदय-पूर्वक होनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति कषायों का दमन करने के लिए उपवास तो करे, किन्तु साथ ही राह चलते राहगीरों की जेब काटने का काम भी जारी रखे, तो उसकी उपवास-साधना व्यर्थ होगी एवं उसका कर्म स्पष्ट रूप से अन्याय और अधर्म युक्त होगा। तभी तो हमें पद-पद पर धर्म रूपी दीपक की जरूरत पड़ती है, जिससे हम मार्ग भ्रष्ट न हो जायँ। धर्म रूपी दीपक को जगमगाता रखने के लिए साधक को लाखों यत्न करने पड़ते हैं। दुराचार से दूर रहकर, सदाचार युक्त एवं निर्मल जीवन को अपनाना जरूरी है। आदर्श जीवन द्वारा ही मानव, वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

मानव-जीवन को सच्चा और आदर्श बनाने के लिए धार्मिक आदर्शों का पालन, अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। पात्र की शुद्धता भी नितान्त आवश्यक है। यथा—सिंहिनी का दूध, केवल सोने के पात्र में ही टिक सकता है, इसी तरह धर्मोपदेश भी केवल सदाचारी मानव के हृदय में ही हृदयङ्गम हो सकता है।

यह अखिल विश्व हमें केवल अपनी भावना के अनुसार ही दिखाई देता है। दृष्टि-भेद से यह जगत्, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में एक दम दूसरा ही नजर आता है। जिस रंग का चश्मा हम अपनी आँखों पर लगाएँगे, यह दुनिया हमें उसी रंग की दिखाई देगी। यदि हृदय में धर्म का

प्रकाश जगमगा रहा है तो फिर बाहर भी हर पदार्थ में स्वच्छता एवं शुद्धता ही नजर आएगी। किन्तु ज्योंही वह आन्तरिक प्रकाश ओझल हुआ तो सभी कुछ भ्रामक एवं कुत्सित दिखाई देता है। अंधेरा तो विकृतियों का प्रतीक है ही। उसी में तो भूत-प्रेत, चोर-डाकू, सक्रिय रहते हैं। तब फिर आलोकमय जीवन का नव-निर्माण किस भाँति करें?

सब से पहले हम अपने इस मानव शरीर को ही लें और विचार करें कि यह हमारा शरीर कैसे और कितने परमाणुओं से निर्मित है? यह कहाँ तक हमारा सहयोगी है और हमें इसकी किस सीमा तक जरूरत है? किसी तत्त्व वेत्ता ने कहा है—"हे मानव! तुझ में और एक केंचुए में कोई अंतर नहीं है! जिस भाँति वह मिट्टी से पनपता है और बढ़ता है, उसी प्रकार तेरा शरीर भी जन्म लेता एवं अभिवृद्धि पाता है। जैसे उसका वास पृथ्वी पर है, उसी प्रकार तेरा निवास भी धरती पर ही है। केंचुए के अनेक जीवन व्यवहार वैसे ही हैं, जैसे कि तेरे। केवल तुझ में और केंचुए में अंतर इतना ही है कि वह धर्म का पालन करने में अक्षम है और तू ऐसा करने में सक्षम है!"

मानव जीवन के विशुद्ध नव-निर्माण में अनेक बाधक बातें हैं, जिनके व्यवधान के कारण वह धर्म रूपी प्रकाश दीप से मार्ग प्रदर्शन पाने में असमर्थ रहता है। उनमें से सर्व-प्रथम व्यवधान है, मोह! दूसरा व्यवधान है—वेदना! वेदना की भी दो कोटियाँ हैं। एक वेदना वह है, जो हमारे अनुकूल जान पड़ती है; और दूसरी वह है, जो प्रतिकूल जान पड़ती है। अनुकूल वेदना को साता वेदना एवं प्रतिकूल वेदना को असाता वेदना कहा गया

है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति कटु वचन कहे तो सुनने वाला क्रोधित होकर उसे मारने लगता है। पूछने पर कहा जाता है कि क्योंकि अमुक व्यक्ति ने पहले गाली दी, इसीलिए उसे दण्डित किया गया। किन्तु ज्ञानी पुरुष के समक्ष यदि यह परिस्थिति रखी जाए तो वह उस पर सम्यक् भाव से विचार करके ही अपना निर्णय देगा। उसके विचार के अनुसार चाहे गाली देने वाला व्यक्ति कैसा ही अविवेकी क्यों न रहा हो, फिर भी यदि सुनने वाले में धैर्य एवं सहनशीलता तथा मानसिक शान्ति होती, तो कम से कम वह तो शान्त रहता; क्योंकि वह स्वयं भी गाली सुनकर अपना धैर्य खो बैठा। इसीलिए बात घटने की अपेक्षा बढ़ ही गई। इसके विपरीत, यदि दुर्व्यवहार सहने वाला व्यक्ति साधु-स्वभाव होता तो वह धैर्य-पूर्वक उसे सहन करके चल देता। क्रोध का परिणाम शान्ति नहीं हो सकती; तभी तो भगवान् महावीर ने कहा है—

'अप्पा कत्ता, विकत्ता य सुहाण य दुहाण य'

अर्थात्—आत्मा शुभ कार्य करने के द्वारा सुखदायी और अशुभ कार्य करने के द्वारा दुखदायी सिद्ध होती है।" यदि क्षण भर भी मानव यह सोचने लगे कि मुझे जो दुःख सहन करना पड़ रहा है, उसका कारण वह स्वयं नहीं, अन्य जन हैं तो उसका यह मिथ्या विचार है

मानव जीवन के आध्यात्मिक नव-निर्माण में तीसरा व्यवधान है—मन की कल्मषमयी स्थिति। यहां विचारणीय बात यह है कि मन सही और गलत मार्गों की ओर क्यों प्रवृत्त होता है? यह अश्रेस्कर पदार्थों की ओर क्यों अधिक आकर्षित होता है और

श्रेयस्कर पदार्थों की ओर क्यों उतना आकर्षित नहीं होता ? इसका कारण है मन की कलुषित अवस्था। इसीलिए आध्यात्मिक साधना की सिद्धि के लिए चित्त की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। शुद्ध मन अश्रेयस्कर पदार्थों की ओर आकर्षित नहीं होगा। केवल अशुद्ध मनःस्थिति ही बुरे विषयों में आसक्ति का कारण बनती है।

मानव-जीवन के आत्मिक पुनरुत्थान में चौथा बाधक व्यवधान है—मन की विषम अवस्था। समभाव इसका विपरीत तत्त्व है। हम अपने नित्य प्रति के जीवन में सभी के साथ कितना समभाव बरतते हैं ? इसी से मन की समस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं; हमारे जीवन एवं व्यवहार में कितना स्थायित्व है एवं कितनी दृढ़ता है ? इसी से हमारी समस्थिति की जांच हो सकती है। इसके विपरीत अवस्था है—अव्यवस्थित चित्त की। समभाव प्राप्त हो जाने पर काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार आदि विकार कुछ बिगाड़ नहीं पाते। विकारों से अप्रभावित मन, मन की सम अवस्था; इसीलिए साधक के लिए अनिवार्य है। इसी संबन्ध में किसी तत्त्ववेत्ता का कहना भी है कि—"मानव को जो स्वभावतया, मन मिला है, वह शुद्ध एवं पवित्र रूप में मिला है। उसे अशुद्ध तो मानव ने, स्वयं भौतिक पदार्थों के मायामोह में कर डाला है। विकृत मन से की जाने वाली सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।

धर्म रूपी दीपक आध्यात्मिक नव-निर्माण में बाधक उपर्युक्त चारों व्यवधानों को दूर करने एवं मानव-मन को निर्मोह, निर्वेद व विशुद्ध, पवित्र अथवा समभाव युक्त बनाने में मार्ग-प्रदर्शन

करता है। किन्तु धर्म रूपी दीप-प्रकाश का सहारा पाने के लिए उक्त चारों मानसिक गुणों की उपलब्धि भी आवश्यक है। यह उपलब्धि सतत स्वानुशासन, तप और अध्यवसाय से ही साध्य है।

धर्म की उपलब्धि के लिए मानव आचरण की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है। आज का मानव दुर्भाग्यवश आचरण की शुद्धता पर ध्यान नहीं देता नजर आता है। वह धर्म से विमुख होकर स्वार्थ परायणता, संकुचित विचारधाराओं एवं राग-द्वेषों में उलझता जाता है। ऐसे व्यक्तियों के बाहुल्य के कारण धर्म में भी विकार व रूढ़ियों का आविर्भाव हो जाता है। भौतिक साधनों की प्रगति की होड़ ने मानव-मन को उबा डाला है और उसे कहीं भी शान्ति या विश्रान्ति का अनुभव नहीं होता। ऐसे मानसिक क्षोभ से संतप्त मानव-जाति के लिए एकमात्र विश्रांति, शरण पाने का मार्ग है—धार्मिक जीवन तथा आध्यात्मिक साधना! अतः हमें महापुरुषों के निम्न वचनों पर ध्यान देना उचित है—

"हे मानव! क्षण भर के लिए तू धर्म का तो सेवन कर! यह तो मालूम कर कि धर्म की शरण में जाने से सुख, शांति एवं विश्राम मिलता है या नहीं; एवं जीवन का सौन्दर्य बढ़ता है या नहीं?" वस्तुतः धर्म ही मानव के लिए एकमात्र विश्वस्त शरण है। उसी की शरण में जाने से मानव-जाति का कल्याण होगा! मंगल होगा!!

दिनांक :   स्थान :

३०-७-५९   बैंगलोर

अठारह :

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य

विद्यार्थियों का समाज और राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य है ? वे अपने विद्यार्थी जीवन में किन विधि-निषेधों का पालन करें; आदि विद्यार्थी जीवन की प्रमुख गुत्थियों पर मुनि जी ने बड़े ही गंभीर तथ्यों का संदर्शन कराया है। आपकी नेकनियती की सलाह हमें भी विचार करने को बाध्य कर रही है।

—सं०

विद्यार्थी, राष्ट्र की बहुमूल्य सम्पत्ति है। प्रत्येक राष्ट्र के विकास और अभ्युदय में, उनका बहुत बड़ा योग रहता है। इसीलिये विद्यार्थी-जीवन की साधना और सफलता का राष्ट्र के भविष्य पर बहुत अधिक और व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक प्रकार से, विद्यार्थियों के सुदृढ़ और सफल जीवन पर ही राष्ट्र और समाज

का भवन खड़ा होता है। जो राष्ट्र अपनी नई पीढ़ी के सुदृढ़ चरित्र की नींव पर खड़े होते हैं, वे ही अपना और विश्व का कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

अब यहाँ यह बात विचारणीय है कि विद्यार्थी-जीवन की नींव मजबूत करने के लिये, किन-किन साधनों की आवश्यकता पड़ती है। यह साधना तीन शक्तियों के विकास पर निर्भर है। विद्यार्थी-जीवन के सुदृढ़ निर्माण के लिए जिन तीन शक्तियों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है, उनमें से सबसे पहली है नियमितता।

संयम और नियम—विद्यार्थी- जीवन के मूल मंत्र हैं। अपनी आवश्यकताओं को कम करना ही संयम है। जितनी कम आवश्यकताएँ होंगी, उतने ही कम उन्हें पूरा करने में साधन जुटाने होंगे। इसलिये मुझे कहना है कि खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, जीवन-यापन के अन्य सभी छोटे-बड़े आवश्यक कार्यों को कम कीजिए—बढ़ाइये नहीं।

विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि वे अपना प्रत्येक कार्य एक निश्चित नियम के अनुसार करें। विद्याभ्यास के लिए, अच्छा स्वास्थ्य रहना भी बहुत आवश्यक है और अच्छा स्वास्थ्य नियमित जीवन बिताने पर ही निर्भर रहता है। प्रकृति बड़ी कठोर शासिका है। जो उसके नियम को तोड़ता है, वही बीमारी और रोगों को बुलाता है। रोगी और कमजोर विद्यार्थी अपने विद्याभ्यास में पिछड़ जाता है। यही नहीं, जो विद्यार्थी नियम से रहने का अभ्यास नहीं करता, वह आगे चल कर आलसी और शोकप बन जाता है। ऐसे व्यक्ति समाज और देश के

लिए भार बनते हैं। नियम से खाने-पीने, मेहनत करने और आराम करने से मन और दिमाग सदा तरोताजा और तेज रहते हैं।

सुव्यवस्था—विद्यार्थी-जीवन की सफलता के लिए दूसरी शक्ति है—सुव्यवस्था। बिना, भली-भांति व्यवस्थित किये जीवन के छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकते। जीवन को सफल बनाने, समाज और देश के सुधार एवं पुनर्निर्माण तथा वाणिज्य-व्यवसाय के विकास; सभी क्षेत्रों में व्यवस्था की बड़ी कीमत है। किसी भी यंत्र को ले लीजिए—जैसे मोटर, घड़ी या रेडियो। अगर इनकी व्यवस्था बिगड़ जाती है तो इनकी गति भी रुक जाती है। जीवन भी एक महान् और सूक्ष्म व्यवस्था पर निर्भर, एक अनोखा यंत्र है। पर इस यंत्र को संचालित करने वाला मन है। मन की ही प्रेरणा से वचन और कर्म संचालित होते हैं। इसीलिए वचनों और कर्मों में व्यवस्था लाने के लिए, मन को व्यवस्थित करना बड़ा जरूरी है।

विद्यार्थी-जीवन के निर्माण के लिए आचार-व्यवहार में प्रामाणिकता लाने का बड़ा मोल है। अतः अपने हर व्यवहार में सत्य-निष्ठ और दृढ़ रहने की जरूरत है।

विद्यार्थी का व्यवहार मधुर और विश्वास योग्य होना चाहिए। जीवन को अप्रामाणिक या अनुत्तरदायी बनाने से, अनन्त दुःखों का सामना करना पड़ता है। अप्रामाणिक व्यक्ति के लिए फिर से विश्वास प्राप्त करना कठिन होता है। अनुत्तरदायी जीवन मृत्यु के समान दुःखदायी होता है, और

गैर-जिम्मेदारी इसीलिए मानव का सबसे बड़ा दुर्गुण है। वह अन्य गुणों का भी विनाश कर देता है। वह कभी भी अपने अभीष्ट को पाने में असमर्थ नहीं होता। जो व्यक्ति औरों के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, वह अपने में भी आत्म-विश्वास खो बैठता है। आज हमारे सारे समाज में और देश भर में गैर-जिम्मेदारी, अनुत्तरदायी मनोवृत्ति एवं अप्रामाणिकता का बोल-बाला है। इससे देश और समाज का अस्तित्व भी संकट में है।

अभी हमने विद्यार्थियों के लिए जिन तीन नियमों का उल्लेख किया है; ये तीनों शक्तियाँ मानव-जीवन को सफल बनाने वाली बलदायिनी शक्तियाँ तो हैं ही, साथ ही वे विश्वास-पात्र सहयोगी एवं साथी का भी काम करती हैं। बिना संगी-साथी के लम्बी और कठिन यात्रा पर चल देने में, कदम-कदम पर दुःखों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी तरह इन शक्तियों के साथ न होने से जीवन की लम्बी यात्रा में पार पाना कठिन है। यही नहीं, वे हमें आगे चल कर, समाज एवं देश के सुधार और अभ्युदय में भी महत्वपूर्ण कार्य करने में योग-दान करेंगी। इसीलिए विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि इन शक्ति-त्रयी की गंगा, यमुना और त्रिवेणी के संगम में निमज्जन करके अपने जीवन एवं आचरण को पवित्र तथा उदात्त बनाएँ।

सदाचार—सदाचार, मानव-जाति का आभूषण है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्यार्थी-जीवन में ही आचार-विचार को मन चाहे ढंग से मोड़ा जा सकता है। किन्तु खेद है कि हमारे विद्यार्थी-वर्ग में सदाचार के प्रति विरक्ति पाई जाती है। जो जीवन प्रणाली उन्होंने अपना ली, वह सदाचार से दूर, बहुत दूर

ने जाने वाली है। हमारा देश भारत, सदैव से धर्म-प्रधान तथा भावना-प्रधान देश रहा है। पर आज सारे समाज में, धर्म से विमुखता पाई जाती है। यह अवस्था तब तक नहीं बदलेगी, जब तक कि विद्यार्थी-जीवन में ही धर्माचरण एवं सदाचार के प्रति निष्ठा और श्रद्धा न बढ़े। पर आज तो हमारे विद्यार्थी असंयमी जीवन बिताने की ओर बढ़े जा रहे हैं। यह चिन्ह देश और समाज के भविष्य के लिये शुभ नहीं है। अतः विद्यार्थियों को चाहिये कि वे इस प्रवृत्ति को बदल डालें। उन्हें अपने आने वाले जीवन की ओर ध्यान देना चाहिये और बड़ी सावधानी और विवेक के साथ, अपने लिये उत्तम मार्ग चुनना चाहिये।

जिस प्रकार कच्चे घड़ों पर जो भी चित्र कुम्हार बना देता है, वे आग में पक जाने पर पक्के हो जाते हैं, उसी भाँति बाल्यावस्था, किशोर व युवावस्था में जो भी संस्कार मन रूपी घड़े पर अंकित हो जाते हैं, वे ही चिरस्थायी हो जाते हैं। अच्छे संस्कारों को मन में आने देना और बुरे संस्कारों को अपने से दूर रखना, विद्यार्थियों का प्रधान धर्म है। जिस प्रकार इस संसार में धनोपार्जन और जीवन-निर्वाह करने के लिये अच्छे स्वास्थ्य की बड़ी आवश्यकता है, इसी भाँति मानव-जीवन के प्रारंभ में धर्म और सदाचारों के उत्तम संस्कारों से मन और आत्मा को स्वस्थ बनाये रखने की नितान्त आवश्यकता है। जिस तरह बिना अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य के जीवन-यात्रा, एक निरंतर यातना है, उसी भाँति बिना आत्मिक स्वास्थ्य एवं मानसिक प्रसन्नता के धार्मिक जीवन और सदाचार, स्वप्न के समान हैं। सदाचार और धार्मिक संस्कार विद्यार्थी-जीवन में ही प्राप्त हो

सकते है। विद्यार्थियों को वह कहावत याद रखनी चाहिए कि 'आग लगने पर कुँआ खोदना निरर्थक है।' जब जीवन-संघर्ष के थपेड़े उन्हें आगे चलकर परेशान करेंगे, तभी उन्हें समय पर भले संस्कारों को ग्रहण न करने का पछतावा होगा। आपत्ति और विपत्तियों के सामने आ खड़े होने पर, उनका हल खोजने के लिए, गुरु-जनों के पास पहुँचने से काम नहीं चल सकता, वरन् ऐसे ही कुसमय के लिए विद्यार्थियों को उत्तम संस्कारों का धन, यत्न से बटोर रखना चाहिए।

जिन विद्यार्थियों ने अपने विद्यार्थी-जीवन में प्राप्त स्वर्ण अवसर का सदुपयोग किया हो, जिसने अपने आपको स्वयं उत्तम संस्कार-युक्त बनाया हो; जिसने इसी कोमल अवस्था में अन्तः करण को सदा सत्य की ओर ही आकर्षित होने की तालीम (शिक्षा) ली हो, वे ही आने वाले जीवन में सत्य के प्रकाश को पा सकते हैं और उसी की दिव्य ज्योति से वे अपने गिरते हुए देश और समाज का उद्धार कर सकते हैं। हमारे पूज्य आचार्यों ने मानव-जीवन को चार विभागों में बांटा है। उनमें सब से पहला काल, जिसका कि विद्यार्थी-जीवन से सीधा सम्बन्ध है, वह है—ब्रह्मचर्य अवस्था। यदि आज मानव-जीवन की औसत उम्र ८० वर्ष मानी जाये, तो उसी का चौथाई भाग बीस वर्ष होते हैं। ये पहले बीस वर्ष ही शरीर और मस्तिष्क के पूर्ण विकास के लिए उपयुक्त होते हैं। आज का विद्यार्थी-समाज इसी ब्रह्मचर्य अवस्था में, विदेशी प्रभाव और रहन-सहन के कुछ ऐसे प्रलोभनों में पड़ गया है कि उसकी सारी अन्दरूनी ताकत छिन्न-भिन्न हो गई है। वे शुद्ध शरीर और शुद्ध मन से विद्या और धर्म के मार्मिक तत्त्वों को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

इसी कारण उनके विद्यार्थी-जीवन की साधना निरर्थक होती जा रही है।

आज के विद्यार्थियों में अनुशासन की बहुत कमी पाई जाती है। गुरु-जनों के प्रति सन्मान की भावना और उनके बताये हुए आदेशों का यत्न-पूर्वक और मनोयोग से पालन करना, उनका परम धर्म है। सच कहा गया है कि—"यदि आप शासन करना चाहते हैं तो सबसे पहले आप आज्ञा पालन करने का अभ्यास कर लीजिए। सभी महान् पुरुषों ने अपने विद्यार्थी-जीवन में अनुशासन को श्रद्धा के साथ माना है। वे अपने बाल्यकाल और युवाकाल में सदा ही संयमी, सदाचारी, आज्ञापालक, परिश्रमी और समय पर काम करने वाले रहे हैं। यही नहीं, ज्यों-ज्यों वे अधिक जानते गए, वे और अधिक विनम्र और गंभीर होते गये।

शरीर ही धर्म-साधन का पहला और अनिवार्य आधार है। शरीर को सुदृढ़ और सबल बनाने के लिए विचारों की दृढ़ता और ऊँचाई जरूरी है। बुरे विचारों के आने से ही कोमल मन के विद्यार्थी, बुरे व्यसनों में फँस जाते हैं। बुरी और अनैतिक आदतों से स्वास्थ्य बरबाद हो जाता है। ऐसे जीर्ण शरीर को लेकर जीवन-यात्रा में पार पाना असंभव है। जीर्ण और रोगी शरीर रूपी नौका से भव-सागर के पार पहुँचने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वास्थ्य का एक मुख्य आधार सात्त्विक और शुद्ध भोजन है। राजसी और तामसिक पदार्थों के भक्षण से स्वास्थ्य तो बरबाद होता ही है, मन और आत्मा पर भी उनका बहुत बुरा असर पड़ता है। माँस और मदिरा को जो नर्क का द्वार बताया गया है, वह यथार्थ ही है। यदि विद्यार्थी अपनी कोमल अवस्था में माँस भक्षण अपना लेंगे तो आगे चल

कर उनका मन क्रूर होता जायेगा और अपने समाज और देश में बसने वाले असंख्य दुखी और निर्धन नर-नारियों के प्रति उसके मन में कभी भी करुणा और नम्रता का भाव न आ-पायेगा। ऐसे व्यक्ति अपनी स्वार्थ साधना में, शोषक व भयानक हो जाते है और वे मानव को मानव ही नहीं मानते। मदिरा मनुष्य की बुद्धि को पंगु बनाती है। बुद्धिहीन अवस्था में मनुष्य न जाने क्या-क्या पशुवत् कर्म करता रहता है और वैसा करने में उसके मन में पछतावा या खेद भी नहीं होता। इसी भाँति धूम्रपान आदि सभी नशीले पेय, स्वास्थ्य और चरित्र को चौपट करने वाले है। तम्बाकू और मदिरा दोनों के व्यवहार से फेफड़े बर्बाद हो जाते हैं और स्नायु और मस्तिष्क के तंतु क्षीण हो जाते हैं। जो विद्यार्थी अपने अध्ययन-काल में इन व्यसनों से परे रहते हैं, वे स्वस्थ एवं सुखी जीवन बिताते हैं। जो इनमें फंस जाते हैं, वे अपने शरीर और मन का स्वास्थ्य सदा के लिए खो डालते हैं। रोगी और निर्बल शरीर को लेकर जीना भी मृत्यु ही है। भगवान् महावीर ने स्वयं कहा है कि—"शरीर एक नाव है। इसमें बैठा हुआ जीव नाविक है। अगर नाव टूटी-फूटी हो तो उसके भरोसे समुद्र की यात्रा नहीं की जाती।"

अधूरा ज्ञान भी दुःख का कारण कहा गया है। जो शिक्षा बालक के केवल मानसिक ज्ञान बढ़ाने की ओर ध्यान देती है, वह छलनी में अमृत भरने के यत्न के समान, हँसी के योग्य बन जाती है। शरीर के स्वास्थ्य का मस्तिष्क से अनिवार्य संबंध है। एक की उन्नति और स्वास्थ्य पर ही दूसरा निर्भर रहता है। इसीलिए शारीरिक और मानसिक विकास; दोनों ही शिक्षा के समान रूप से ध्येय रहने चाहिएँ। "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ

मस्तिष्क निवास करता है।" विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस स्मरणीय तत्त्व को सदा याद रखें। तभी वे आगे चलकर, अपने प्रति, देश के प्रति और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा कर पायेंगे।

दिनांक :   **स्थान :**

१-५-५६   बसनगामा : उत्तरी बिहार का नेपाली सीमान्त प्रदेश

विद्यार्थियों पर आक्षेप !

आमतौर पर यह कहा जाता है कि विद्यार्थियों में उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है। किन्तु हमें गंभीरता पूर्वक यह विचार करना पड़ेगा कि इस समस्या का मूल कहाँ है? आँखों पर किसी की अँगुली लगती है तो वे मूँदती हैं। बिच्छू के शरीर से स्पर्श होते ही वह डंक मारता है। इसी प्रकार मनुष्य में प्रतिरोध की भावना स्वाभाविक है। माता-पिता यदि अपने पुत्र-पुत्रियों के प्रति सन्देह शील हैं, बात-बात पर उनके शील की आभा उतर जाने का खतरा मानकर उन्हें रोकते रहते हैं तो पुत्र-पुत्रियों में विद्रोह पनपता है। फलस्वरूप वे अभिभावकों के सामने ऐसी आग लगाते हैं जिससे धुँआ तो उठता है, पर वे आग साबित नहीं कर सकते। यही सब बातें विद्यालयों में सामूहिक रूप से होती हैं।

—मुक्त चिन्तक

उन्नीस :

ब्रह्मचर्य की शक्ति !

ब्रह्मचर्य, मनुष्य की मूल शक्ति है। क्षणिक उत्तेजना वश वासना के वेगवान प्रवाह में बह जाना वस्तुतः अहितकर है। वासना जैसी स्वाभाविक वस्तु का स्वाभाविकता के नाम पर गलत ढंग से इस्तेमाल करना ही गलत है। वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर मुनि जी ने यहाँ ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित अपने साफ विचार जाहिर किये हैं। —सं०

विज्ञान के युग में धर्म, ईश्वर, सत्य, ईमानदारी, नैतिकता और ब्रह्मचर्य—ये सब मानवीय गुण, कसौटी पर हैं। आज धर्म, दर्शन और आत्मिक गुणों को भी विज्ञान की तराजू पर तोला जा रहा है। यह माना कि अपनी-अपनी परम्परा से प्राप्त धर्म और सम्प्रदायों में कुछ ऐसी प्रणालियाँ या साधना पद्धतियाँ चल पड़ी

है जो वस्तुतः गलत हैं। ये गलत बातें सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही प्रारम्भ की थीं। परन्तु आगे चलकर परिवर्तित लोगों ने उन गलत बातों को धर्म मानकर प्रश्रय दिया, उनकी मूल दृष्टि को नहीं समझा। यदि उनके उद्देश्य को समझ कर उन चालित परम्पराओं का उन्मूलन किया होता तो आज धर्म को ढोंग न कहा गया होता।

कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म के असली मर्म को आज प्रायः सभी धर्म के अनुयायियों ने भूला दिया है। बाहरी अनुष्ठानों को धर्म कहना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप इस तार्किक युग में धर्म और मानवीय गुणों के प्रति भी विपरीत आस्था होती जा रही है।

तो आज के प्रवचन का विषय—ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य मनुष्य के लिए क्यों आवश्यक है ? इस पर हमारे मनीषियों ने चिन्तन के गहरे ज्ञान की बात कही है। उसी की चर्या हम कर रहे हैं। परन्तु उस चर्चा के साथ-साथ विज्ञान की पैनी आँखों से भी ब्रह्मचर्य को देखते चलना आवश्यक है। मनोविज्ञान वेत्ताओं ने प्रत्येक विषय पर मौलिक ढंग से सोचा है। उनके सोचने का भी एक तरीका है। यह तरीका आज पर्याप्त मूल्यवान् साबित हो रहा है। अतः ब्रह्मचर्य की जड़ों पर विज्ञान की रोशनी पड़ना भी आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है—ब्रह्म + चर्य = ब्रह्म की ओर चर्य, अर्थात् गमन करना या चलना। यानी ब्रह्मचर्य की साधना के पथ पर चलने वाला ब्रह्म की ओर ही प्रस्थान करता है। इस पथ पर चलने हुए साधक एक ही संलक्ष्य लेकर चलता है।

अपने आराध्य से एक ही प्रार्थना या अभ्यर्थना करता है—*तमसो मां ज्योतिर्गमय* ! अर्थात् हे प्रभु ! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल ! अब्रह्म के अन्धकार से ब्रह्म के प्रकाश की ओर ले चल ! मैं ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा ब्रह्म तक पहुँचना चाहता हूँ, पूर्णता प्राप्त करना चाहता हूँ । तन,मन और आत्मा को अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में नियोजित करना चाहता हूँ । क्योंकि यही पूर्ण व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य है ।

तन, मन और आत्मा की एक निष्ठा से साधना करने वाला साधक ही समाज, धर्म और राष्ट्र का अभ्युदय कर सकता है, क्योंकि ब्रह्मचारी पूर्ण निर्भय होता है । जो निर्भय होता है, वह स्वार्थ को बहुत पहले ही समाप्त कर देता है । और यह स्वार्थ ही तो समाज, धर्म व देश के अभ्युदय में बाधक चट्टान बनकर खड़ा हो जाता है । स्वार्थ से ऊपर उठे भीष्म पितामह के जीवन को पढ़ लीजिए, ब्रह्मचर्य के चमत्कार से दिप्त उनका जीवन तत्कालीन समाज के लिए कितना लाभान्वित हुआ ? जैन साहित्य का कथा-कोष भी ब्रह्मचर्य की महिमा और शक्ति से अटा पड़ा है । मुनि गजसुकमार का तेजस्वी जीवन इस बात की गवाही दे रहा है । विजय कुमार और विजय कुमारी तो ब्रह्मचर्य साधना के अनूठे साधक थे । आज भी उनकी कठिन—कठोर प्रतिज्ञा का स्मरण करते ही शरीर में बिजली-सी चमक जाती है । मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है । इसी तरह सीता अग्नि में भी चमकी । वह चमकी और उसका ब्रह्म-तेज भी चमका ।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो ब्रह्मचर्य की शक्ति पर एक-बारगी पूर्ण आस्थावान होकर चल पड़ता है और इस पथ पर

अग्रसर हो जाता है, उसे अग्नि जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता। शस्त्रों का प्रहार भी उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता; क्योंकि ब्रह्मचारी आत्मा को ही प्रधानता देता है, देह को नहीं। देह को, इन्द्रियों को, प्रधानता एवं मुख्यता देने वाला भोग की ओर ही प्रवृत्त होता है। इन्द्रिय सुख ही उसके जीवन का आदि, अन्त और मध्य होता है। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधक शरीर की समाप्ति को महत्व नहीं देता और न इसकी सुरक्षा को ही। तो इन तेजस्वी आत्माओं ने आग में जल कर भी अपने शरीर की परवाह नहीं की। इसका मुख्य कारण क्या था? प्रथम तो इनके आत्म-बल के सामने शारीरिक दुःख महत्व-हीन थे तथा ब्रह्मचर्य की अदृष्ट शक्ति भी—बल प्रदान करती रही। अतः देह को नष्ट होते देखकर भी इनके मन में चल-विचलता उत्पन्न नहीं हुई। क्यों न हुई? इसीलिये कि ब्रह्मचारी अपार यातनाओं एवं कष्टों को धैर्य-पूर्वक सहन करने की क्षमता रखता है; जबकि अब्रह्मवादी यानी भोगवादी पद-पद पर विचलित हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य को आत्मा की ज्योति व शक्ति कहा है। जब यह ज्योति बुझ जाती है तो हमारा समस्त जीवन ही—अन्धकार मय हो जाता है और हो जाता है, समस्त दुष्प्रवृत्तियों का घर! अतः हमें यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि ब्रह्मचर्य ही समस्त साधनाओं की भूमिका है। यह नींव जितनी गहरी और व्यापक होगी, हमारे जीवन की मीनार भी उतनी ही ऊँची उठ सकेगी।

अध्यात्मवाद का यह परम आघोष हमारे सामने है कि ब्रह्मचर्य ही आत्मा की ऊँचाई प्राप्त करा सकता है। इस शाश्वत कालीन सत्य को बहुत संभव है आप एक तरफा कहें; अतः

विज्ञान की ओर से इस विषय पर होने वाले, प्रश्नों पर भी विचार कर लूँ। अस्तु, वैज्ञानिक युग के प्रमुख दो प्रश्नों पर विचार कर रहा हूँ। पहला प्रश्न है :-"जब तक देह है, तब तक पूर्ण ब्रह्म क्या साध्य है ?" दूसरा प्रश्न फ्रायड के अनुसार यह होता है कि—"पूर्ण ब्रह्मचर्य असाध्य है। यदि कोई हठ पूर्वक उसका पालन करता भी है तो उससे बहुत-सी शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।"

पहले प्रश्न के उत्तर में मुझे कहना है : "मानव की मानसिक भूमिकाओं और दृढ़ता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। अवस्था भेद से कुछ के लिए ब्रह्मचर्य असाध्य माना जा सकता है। परन्तु वह कुछ के लिए सहज साध्य भी है। यह तो एकदम निश्चत तथ्य है कि कोई व्यक्ति निरन्तर विषयी नहीं रह सकता। तो फिर क्या यह उसकी साध्यता के प्रति एक संकेत नहीं है ? वासना तो एक वेग है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार क्रोध, लोभ, भय आदि होते हैं। ये यदि साधना से क्षीण हो सकते हैं तो ब्रह्मचर्य भी साधना का केन्द्र-बिन्दु क्यों नहीं बन सकता है ?

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी इसी में सन्निहित है। फिर भी इतना कहना है कि सबल और निर्बल साधक की शक्ति और मानसिक दृढ़ता पर ही यह निर्भर करता है। परन्तु यह असाध्य नहीं, दुष्कर साध्य अवश्य है। जहाँ तक शक्ति का प्रश्न है, वहाँ तक तो यह सुनिश्चित है कि ब्रह्मचर्य शक्ति का एक अजस्र स्रोत है। विषय तृप्ति जैसी तुच्छ वृत्ति में इसका व्यय न करें तो मनुष्य अनुपम फल प्राप्त कर सकता है, क्योंकि संसार में आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं उनमें से अधिकांश ब्रह्मचारी ही हुए हैं।

इसलिए हमें यह निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है कि ब्रह्मचर्य आत्म-उन्नति तथा कष्ट सहिष्णु बनने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य की साधना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। आवश्यक है—यह कह देने के साथ-साथ यह निर्देश भी है कि अपनी शक्ति को नापे बिना ही हठ योग के आधार पर अगर शक्ति से अधिक व्रत व प्रतिज्ञाओं का वजन ले लिया जायगा तो वह उसके नीचे दब जायगा और कह उठेगा—ब्रह्मचर्य असाध्य है, अव्यवहार्य है।

शक्ति से अधिक वज़न उठाने के परिणाम स्वरूप ही भोगवाद आज संसार में व्याप्त होता जा रहा है; और यही कारण है कि मानव समाज विषय भोगों की ओर दौड़ लगा रहा है। धर्म, कर्म से लोग विमुख होते जा रहे हैं। इसीलिये आज संसार, सुख की जहाँ उपलब्धि दुर्लभ है, वहाँ सुख खोज रहा है। वह क्षणिक पदार्थों से स्थायी सुख की आकांक्षा करता है। पर जो स्वयं क्षणिक एवं अस्थायी है वह स्थायी सुख कैसे प्रदान कर सकता है। यह हमारा रात-दिन का जाँचा-परखा और आँखों देखा सत्य है—और जो आँखों देखा सत्य है, वह वैज्ञानिक सत्य भी है ही।

और जड़ की बात यह है कि वासना तृप्ति में सुख खोजना अहमकपन ही है। जैसे कोई व्यक्ति शहद से लिपटी तलवार की धार को प्यार करे या चाटे, वैसे ही हम अज्ञान वश क्षणिक सुख-भोगों का पीछा करके नाना प्रकार के दुःखों की लम्बी परम्पराओं को प्राप्त कर रहे हैं। ये सब दुःख के अम्बार अब्रह्मचर्य का जीवन बिताने से ही बहु संख्यक होते जा रहे हैं। अतः ब्रह्मचर्य की बुद्धि नर-नारी सभी के लिए श्रेयस्कर

एवं ग्रहणीय है। अतः पुरुष को अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं मन वाणी और कर्म से किसी भी भाँति नारी पर बलात्कार नहीं करूँगा। साथ ही नारी का भी यहाँ यही कर्त्तव्य है कि वह पुरुष को अपने हाव-भाव एवं मोहक आकर्षण का खिलौना बनाना ही अपना उद्देश्य न समझे।

इस प्रसंग में यदि मुनि जीवन से भी सम्बन्धित कुछ न कहूँ तो संभव है यह विषय अपूर्ण-सा ही रहेगा। वैसे तो ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जीवन पर्यन्त कहा जाय, तब भी थोड़ा ही होगा। तो साधु लोग पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं. यह तयशुदा बात है। एक दिन संघ के समक्ष उन्होंने जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण किया है, परन्तु यहाँ मुझे 'पूर्ण' शब्द को लेकर ही कुछ कहना है। पूर्णता वैसे बड़ा अटपटा शब्द है। शारीरिक सम्बन्ध न होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। साधु के मन में नारी के प्रति यदि आकर्षण हो जाए और वह इस भावना से उसकी ओर देखता है स्वयं चलाकर, कामोत्पादक बात करता है तो वह ब्रह्मचर्य को भंग कर रहा है। यह श्रमण भगवान् महावीर की अध्यात्म शिक्षा का पहला सूत्र है। इसी प्रकार गृहस्थ साधक भी यदि कामाभिभूत होकर कुदृष्टि से नारी को देखता है या देखने की चेष्टा करता है तो वह भी अपने साधक जीवन की—चादर को दागिल बनाता है।

अस्तु, साधक चाहे वह गृहस्थ हो या साधु-साध्वी हो या नारी ; ब्रह्मचर्य की साधना सब के लिए आवश्यक है। गृहस्थ के भोग की एक सीमा रेखा है. उसका उल्लंघन वह न करे—और मुनि जीवन में वह रेखा भी समाप्त है। अतः अपने-अपने स्वीकृत

व्रत व प्रतिज्ञा पर पूर्ण आस्थावान हो ब्रह्म में लीन होना—सुखानुभव करना—यह ब्रह्मचर्य की तपस्या के लिए बहुत जरूरी है।

दिनांक : १०-६-५६ | स्थान : बेंगलोर

बीस :

जीवन-माधुर्य

जीवन में माधुर्य प्राप्त करने के लिए सारा जग उत्कण्ठित है। वह प्रत्येक साँसों में माधुर्य की मधुर चाह करता है और अपनी चिन्तन प्रणाली के अनुसार व्यक्ति, व्यक्तिशः उसके लिए प्रयत्न शील भी है, किन्तु धार्मिकों के इस सम्बन्ध में अपने विचार हैं और वे तर्क पूर्ण भी हैं। दया, करुणा और दान आदि माधुर्य की उन्होंने सत्यता स्वीकार की है।

—सं०

जीवन जीने के लिए मनुष्य को वाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहती है। पदार्थों की उपयोगिता को तो स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि उसके विना जीवन गति नहीं करता। लेकिन उन पदार्थों से मनुष्य का चिपक जाना, यह महा पुरुषों की दृष्टि में हेय है। एक साधारण प्राणी की तरह जीवन यापन कर जाना मूल्यवान

नहीं। जीवन का मूल्य है—माधुर्य में! मधुरता में! सुख में! आज माधुर्य ही हमारे प्रवचन का विषय है। माधुर्य की परिकल्पना भारतीय ऋषियों ने त्याग में की है। अतः हम आप्त पुरुषों के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हुए यह कहेंगे कि त्याग हमारे जीवन में माधुर्य या मिठास पैदा करने का आधार स्तम्भ है।

त्याग के अभाव में जीवन का कोई मूल्य नहीं है, बल्कि वह शव के समान है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि त्याग का मूल उद्देश्य क्या है और जीवन की सार्थकता के लिए उसकी उपयोगिता कितनी है? पूर्वजों के आदर्श पद-चिन्हों को देखकर ही हम इस गम्भीर समस्या का समाधान कर सकते हैं।

त्याग का मूल अभिप्राय : त्याग का मतलब अभावों में ग्रसित रहने का नहीं है, और न यही है कि कोई पदार्थ-विशेष जो हमारी प्राप्त-शक्ति से बाहर है, उसकी आशा छोड़कर हम अपने प्रयत्नों की विफलता को ही त्याग मान लें; बल्कि त्याग की सीधी-सादी परिभाषा यह है कि जीवनोपयोगी आवश्यकताओं को यथाशक्ति नियंत्रित करें और उन आवश्यकताओं के पूरक पदार्थों के प्रति अपने मन में आसक्ति-भाव पैदा न होने दें। पदार्थों के उपभोग के लिए जिस समय हमारा अनासक्ति-भाव मजबूत हो जाएगा और 'स्व' का ममत्व 'पर' में केन्द्रित हो जाएगा, तभी त्याग का सच्चा स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होगा।

इस सम्बन्ध में युग-द्रष्टा श्रमण भगवान् महावीर ने अपना स्पष्ट चिन्तन हमारे सामने रखा है।

"जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥"
—दशवै० २।३

अर्थात्—"जो कान्त एवं प्रिय भोगों से पीठ फेर लेता है और सब प्रकार के प्राप्त एवं स्वाधीन भोगों को छोड़ देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।"

परन्तु जीवन के माधुर्य की परिपूर्ति के लिए त्याग के अभिप्राय को समझने के साथ-साथ, यह जानना भी जरूरी है कि जो दुर्लभ मनुष्य-जीवन हमें प्राप्त हुआ है और उसका जो विशाल उद्देश्य हमारे सामने खड़ा है, उसका समुचित निर्माण किस प्रकार से हो और तदनुसार हम आत्म-कल्याण के अभीष्ट को किस प्रकार प्राप्त करें ? जीवन-निर्माण और आत्म-कल्याण जैसे गुरु-गम्भीर प्रश्नों को हल करने के लिए मनुष्य अकेला ही सब कुछ नहीं कर सकता। अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए उसे अपने परिवार और समाज—जिनका कि वह अविच्छिन्न अंग है—के महत्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा और यथावसर उनके उत्थान का उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ेगा।

आत्म-निरीक्षण के आधार पर उपर्युक्त समस्याओं के सहज समाधान के लिए एक ही उपाय है; और वह है—त्याग ! जिस प्राणी के अन्दर त्याग-वृत्ति जितनी अधिक मात्रा में होगी, उतनी ही मजबूती के साथ वह अपने सम्मुखस्थ स्वार्थों को ठुकरा सकेगा और साथ ही दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का भी ध्यान रख सकेगा। त्याग की अनुभूति होने पर जीवन में अच्छे संस्कारों का प्रकाश होता है, जिससे कुसंस्कारों की कालिमा विलीन होती

है और मानव-मन में उत्थान की उमंग उठती है। इस उमंग के उत्पन्न होने पर मानव अपने अन्दर एक अलौकिक आनन्द एवं माधुर्य का सचार अनुभव करता है और यह अनुभव उत्तरोत्तर उसे परमानन्द की ओर अग्रसर करता है।

परिवार की समृद्धि और आनन्द का आधार भी त्याग ही है। जिस परिवार में त्याग-वृत्ति की प्रतिष्ठा है, जहाँ स्वार्थों का प्रवेश ही नहीं हो सका, उस परिवार में उत्साह व आनन्द का वास है और सुख तथा शान्ति की शीतल छाया है। इसके विपरीत जिस परिवार में स्थिर स्वार्थ का असर है, वहाँ तरह-तरह के विषाद, विप्लव और विपदाओं का बोल-बोला है। अतः हमें स्वीकार करना होगा कि 'स्व' (स्वार्थ) की कामना के सामने 'पर' (परमार्थ) की प्रेरणा प्राय विलीन हो चुकी है।

'स्व' और 'पर' के प्रभाव की जैसी स्थिति परिवार के अन्दर है, वैसी ही समाज में भी है। परिभाषा के अनुसार जब समाज को मानव समुदाय की संज्ञा की दी गई है, तब समाज के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति में एक-दूसरे को अर्पण की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। यह ठीक है कि जो भोग्य सामग्री हमारे अधिकार में है, उसके उपभोग का हमें पूर्ण अधिकार अवश्य है। परन्तु अमुक सामग्री का उपभोग करते समय हमें उससे सम्बन्धित दूसरों की आवश्यकताओं का भी समान रूप से ध्यान रखना चाहिए, तभी हमारा उपभोग सच्चा माना जायगा। इस तथ्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में हमारे धर्म-शास्त्रों और पौराणिक ग्रन्थों की आदर्श मान्यता देखिए—

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः,
मा गृध कस्यस्विद् धनम् ।"
—ईशोपनिषद्

अर्थात्—"मनुष्य, तू भोग के साथ त्याग भी कर ! जो भी भोग्य सामग्री तुझे प्राप्त है, उस पर अकेला अपना ही अधिकार मत मान; बल्कि उसकी प्राप्ति में दूसरों के प्रयत्न एवं परिश्रम का भी मूल्यांकन कर और उस मूल्यांकन के अनुसार दूसरों की आवश्यकता पूर्ति के निमित्त अमुक सामग्री में से अर्पण का संकल्प कर ! तेरे अर्पण-संकल्प के बाद जितना भाग तेरे अधिकार में रहे, उसका ही संतोष पूर्वक उपभोग कर।"

इस प्रकार भोग के पहले यदि त्याग का शुभ संकल्प जाग्रत हो जाता है , तो वह भोग अमृत बन जाता है। ऐसा भोग ही परिवार के, समाज के और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाता है। उपभोग की वस्तु में से यदि पहले दूसरों की आवश्यकता के लिए समुचित भाग बाँट दिया गया है और बाद में अपने भाग का उपभोग किया गया है, तो वह वस्तु अमृत बनती है और उसका उपभोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुख एवं शान्ति का दायक बनता है।

इसके विपरीत जिसके मन में 'पर' (परमार्थ) की पवित्र प्रेरणा जाग्रत नहीं हुई है और तदनुसार दूसरों की आवश्यकताओं को महत्त्व नहीं दिया ; बल्कि सम्पूर्ण पदार्थ को अपने ही भोग के लिए सुरक्षित रख लिया है, तो इस प्रकार का भोग विष बनता है और उसमें से जीवन-शक्ति नष्ट हो जाती है। 'स्व'

की स्वार्थ-परता के कारण जब जीवन-शक्ति का ह्रास हो जाता है, तो सफल जीवन का जो वास्तविक आनन्द है, उसे मनुष्य कभी प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार समाज और राष्ट्र के अन्दर भी जब-जब 'पर' की प्रेरणा से त्याग की वृत्ति जाग्रत हुई है, तभी समाज और देश उत्थान की ओर अग्रसर हुए हैं।

जीवन के व्यापार में, जब कि पद-पद पर तरह-तरह की समस्याएँ और बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, और स्वार्थ-चक्र में फँसने को विवश करती हैं, तब ऐसी कठिन अवस्था में 'पर' की प्रतिष्ठा; अर्थात्—त्याग-वृत्ति को अपनाने का कौन-सा सहज उपाय है, जिसकी निरन्तर साधना करके जीवन साफल्य की सीढ़ी चढ़ी जा सके? इस गहन विषय के निराकरण के लिए यदि उपयुक्त उपाय को एकदम शुरू कर दिया जाएगा तो प्रयोग की सफलता में उसी भाँति सन्देह होना सम्भव है, जिस प्रकार किसी उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए सीढ़ी-दर-सीढ़ी के मार्ग को छोड़कर साहस के साथ एकदम छलाँग मारी जाए। साहस कोई अपवाद की वस्तु नहीं; बल्कि जीवन के माधुर्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है, यदि साहस का प्रयोग समय तथा घटना की गहनता के अनुसार किया जाए।

अस्तु, त्याग को स्वीकार करने के लिए सीढ़ी-दर-सीढ़ी वाला प्रारम्भिक प्रयोग यह है कि हम अपने मुख को कमल की तरह उपयोगी बनावें। यहाँ यह शंका पैदा हो सकती है कि कमल की उपमा के अनुसार मुख का गोरा और चिकना-चुपड़ा होना जरूरी है। परन्तु जो मुख जन्म से ही काला और खुरदरा है,

वह अछूत की भाँति कमल की उपमा कैसे पा सकता है ? परन्तु कमल की उपमा का अभिप्राय मुख के वाह्य रूप-रंग से नहीं; बल्कि आभ्यन्तर गुण से है। हमारे कवियों और शास्त्रकारों ने मुख को जो कमल की उपमा दी है, उसका आधार वाह्य रंग-रूप नहीं है, बल्कि आभ्यन्तर गुण ही है। वह आभ्यन्तर गुण है—सुगन्ध ! इस आभ्यन्तर गुण के सम्बन्ध में एक आचार्य ने गहरी अनुभूति की सच्चाई हमारे सामने रखी है—

वाचामृतं यस्य मुखार विन्दे, दानामृतं यस्य करारविन्दे ।
दयामृतं यस्य मनोरविन्दे, त्रिलोकवन्द्यो हि नरो वरेऽसौ ॥

"जिसके मुख से अमृत-वचनों की वर्षा होती है, वास्तव में वह मुख—कमल है। जिसके करों से दान की वर्षा होती है, वह कर—कमल है। और जिसके हृदय से दया की अमृत-वर्षा होती है, वह हृदय—कमल है। जिसमें ये आभ्यन्तर गुण विद्यमान हैं, वही पुरुष तीन लोक में वन्दनीय है।"

इसके विपरीत वाहरी रंग-रूप की दृष्टि से कोई मुख मन-मोहक तो है, किन्तु उसमें आभ्यन्तर गुण नहीं है; अर्थात्—उस मुख से जो कुछ बोला जा रहा है, उसमें प्रेम और स्नेह का अभाव है, जिसके कारण उसके शब्द प्रभाव-शून्य एवं क्लेश-कारक हैं, तो वह आकर्षक रंग-रूप वाला मुख—कमल की उपमा के योग्य नहीं हो सकता। वह तो अपने स्वभावगत दोष के कारण विष का स्रोत ही कहलाएगा।

प्रायः यह देखा जाता है कि लोग छोटी-छोटी क्षणिक घटनाओं को आधार मानकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं

ग्रौर कभी-कभी तो छोटी-छोटी घटनाग्रों के झगड़े प्रेम, सहिष्णुता तथा विवेक की कमी के कारण हिंसक दुर्घटनाग्रों का वीभत्स रूप भी धारण कर लेते हैं। ग्राखिर ऐसा क्यों होता है ? उत्तर बिल्कुल साफ है—"जोवन में हमने मुख की उपयोगिता को नहीं पहचाना।"

मुख की उपयोगिता का सीधा-सादा ग्रर्थ यह है कि हमारे मुख से जो भी शब्द निकले, वह विवेक युक्त हो; सत् ग्रौर ग्रसत्, नीति ग्रौर ग्रनीति, शुभ ग्रौर ग्रशुभ, तथा कल्याण ग्रौर विनाश के तदरूप परिणामों पर गहराई से विचार करने के वाद ही हमें ग्रावश्यकतानुसार शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। 'ग्रावश्य-कतानुसार शब्दोच्चारण' की बात से ग्रापके मन में यह शंका पैदा हो सकती है कि मामूली ग्रौर गम्भीर समस्याग्रों के समाधान के लिए दो प्रकार का शब्दोच्चारण करना पड़ेगा। मामूली विषय पर सरल एवं सूक्ष्म शब्दों का प्रयोग ग्रौर गम्भीर विपय पर कठोर शब्दों का प्रयोग, परन्तु शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में यह शंका निरर्थक है। चाहे कोई विषय मामूली हो ग्रथवा गम्भीर हो, प्रत्येक ग्रवसर पर हमारा शब्दोच्चारण विवेकपूर्ण ही होना चाहिए। मामूलो ग्रौर गम्भीर का यह ग्रभिप्राय कदापि नहीं है कि मामूली समस्या के समाधान के लिए हम मौन धारण कर लें ग्रौर विवाद-ग्रस्त विषय के ग्रवसर पर प्रतिशोध की भावना वश कठोर शब्दों का प्रयोग करें।

वार्ता का विषय सामान्य हो ग्रथवा गम्भीर, हमारा शब्दो-च्चारण सरल ग्रौर सूक्ष्म ही होना चाहिए। विपम ग्रौर विस्तृत शब्दोच्चारण से कभी-कभी ग्रति साधारण विपय भी ग्रसाधारण

रूप धारण कर लेते हैं; जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि मुख की जो उपयोगिता प्रेम, शान्ति और कल्याण के लिए मानी गई है, वह अविवेक पूर्ण विषम शब्दोच्चारण के कारण—घृणा, अशान्ति और विनाश का प्रतीक बन जाती है। 'शब्द' की महत्ता के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने कितना मर्म-स्पर्शी विचार प्रस्तुत किया है—

"एक : शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"

—महा भाष्य

अर्थात्—"मुख से निकलने वाला एक-एक शब्द विवेक पूर्ण हो और प्रेम एवं शान्ति के मधुर रस में सरोबोर होना चाहिए; क्योंकि ऐसे ही त्रिगुणात्मक शब्द के अन्दर दूसरों की हित-कामना छिपी हुई है। ऐसे शब्दोच्चारण ही मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाते हैं। इसके विपरीत मुख से निकला एक भी शब्द यदि असत्, अनीति, अशुभ और कटु व कठोर होगा, तो उसका प्रभाव मानव को सांसारिक विकारों में फँसाए रखेगा और नरक की ओर ले जाएगा। इसलिए मुख से किसी शब्द को निकालते समय हमें उसके अच्छे-बुरे प्रभाव पर गहराई से विचार कर लेना जरूरी है।

शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में हमारे ऋषि-महर्षियों ने जो सार-तत्त्व बताए हैं, वे केवल कथानक मात्र ही नहीं हैं; बल्कि अपना मत प्रगट करने से पहले हमारे पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने गहरा अध्ययन किया था और शब्दोच्चारण के दोनों प्रकार (शुभ-अशुभ) के प्रभाव का स्पर्श करने के बाद ही समाज के सम्मुख अपना स्पष्ट निर्णय दिया था।

उनके निर्णय का आशय यही है कि वाणी (शब्दोच्चारण) के ऊपर मानव-जीवन आधारित है। यदि वाणी न होती, तो जीवन-मार्ग में अनगिनत कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जातीं। जीवन-व्यापार में एक मनुष्य की दूसरे से बातचीत होना, एक-दूसरे के बीच विचारों का, सहानुभूति और संवेदना का आदान-प्रदान होना, केवल वाणी के द्वारा ही सम्भव है।

अब आप भली-भाँति समझ गए होंगे कि मनुष्य के जीवन में वाणी का कितना बड़ा महत्व है। वाणी न होती, तो मनुष्य की क्या दशा होती ? उस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपना अलग-अलग मार्ग बनाकर कीड़े-मकोड़े के रूप में रेंगता दिखाई देता। मानव का शरीर पाकर भी मनुष्य और मूक पशु में क्या कोई अन्तर रहता ? कुछ भी नहीं।

आज भौतिकवाद के प्रवाह और आधुनिक विज्ञान के प्रभाव के कारण प्राचीनकाल की अच्छी से-अच्छी मान्यता और पूर्वजों के आदर्शमय विचार को आज की भाषा में 'दकियानूसी' कहकर टाल दिया जाता है। हो सकता है कि मुख-कमल की बात भी दकियानूसी दिखाई दे; क्योंकि कमल का जन्म-जात सम्बन्ध जल और सरोवर से ही रहा है। इसलिए वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर भी 'शब्द' की महत्ता को प्रमाणित करना जरूरी है।

वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर विज्ञान-वेत्ताओं ने 'शब्द' को अमर माना है—'Word is immortal'. भूतकाल में जो

शब्द बोले गए हैं उनका प्रत्यक्षीकरण ग्रामोफोन, टेलीफोन आदि के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शब्दोच्चारण करते समय हमें सत्-असत् और शुभ-अशुभ के तद्रूप परिणामों पर गहराई से विचार कर लेना चाहिए, जिससे कि मुख से निकलने के बाद शब्द का प्रभाव वायुमंडल में व्यापक एवं चिरस्थायी न बन सके; क्योंकि वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार जब 'शब्द' अविनाशी है, तो उसका प्रभाव भी अविनाशी होकर रहेगा।

शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि हमारे बोलने के ढंग में सदैव समता और एकरूपता रहनी चाहिए; अर्थात्—किसी विषय पर यदि हम मित्र-मंडल में विचार-विमर्श करें या समाज के दूसरे वर्गों के साथ बातचीत करें तो उस विचार-विमर्श या बातचीत में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए। विवेक के अभाव में यदि यह अन्तर बढ़ता रहेगा, तो हमारी वाणी में बहुरूपियापन का दोष पैदा हो जाएगा। और जब हमारी वाणी इस प्रकार के बहुरूपियापन से दूषित हो जाएगी, तो यह निश्चित है कि हमारा जीवन पतन और अधःपतन के मार्ग से एक दिन विनाश को प्राप्त हो जायगा।

मुख की भाँति शरीर में दूसरे भी अंग हैं, जिन्हें उपयोगिता के नाते कमल की उपमा दी जानी चाहिए। कर (हाथ) और हृदय का स्थान शरीर की क्रियाशीलता में कितना महत्व-पूर्ण है, यह सभी जानते हैं। परन्तु अब तक की जानकारी और आज की जानकारी में मूल-भूत अन्तर दिखाई देगा; क्योंकि हाथ और हृदय की सीधी-सादी परिभाषा यही की जाती है कि कर की

उपयोगिता 'कर्म' है और हृदय की उपयोगिता 'संचार' है। 'कर्म और 'संचार' में मर्यादित अब तक की जानकारी में जो अन्तर बतलाया है, वह ऐसा विषम नहीं है, जिसका समाधान न हो सके।

हाँ, तो हाथ और हृदय की वास्तविक उपयोगिता के अनुसार आज की जानकारी नई नहीं है और न आधुनिक विज्ञान से भी उसका अंश-मात्र सम्बन्ध है; बल्कि वह तो सहस्रों वर्ष पुरानी है और पूर्ववर्ती आचार्यों की आत्मानुभूति है। उसका शाब्दिक चित्र इस प्रकार है—

"दानामृतं यस्य करार विन्दे"

अर्थात्—"जिन हाथों से दान-कर्म का अमृत बहता हो और दान का वह अमृत दूसरों की पीड़ा को हरण करने वाला हो तो ऐसे हाथ (कर) कमल की उपमा के योग्य हैं।

मुख और हाथ की भाँति हृदय की वास्तविक उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्यों की आत्मानुभूति देखिए—

"दयामृतं यस्य मनोरविन्दे"

अर्थात्—"जिस हृदय के संचार-गुण से दया का अमृत बहता हो और वह दया रूपी अमृत दुखी प्राणियों का त्राण करने वाला हो, तो वास्तव में ऐसा हृदय कमल कहलाने योग्य है। दया या करुणा से प्राणी का मंगल तो होता है, परन्तु जिस दया में स्वार्थ के अंकुर मौजूद हों तो वह कल्याणकारी नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचना में हाथ और हृदय की सैद्धान्तिक उपयोगिता का परिचय प्राप्त करने के बाद 'अब तक की, और 'आज की'—दोनों प्रकार की जानकारी के अन्तर की बात भली भांति समझ में आ गई। जैसा कि इस अन्तर के बारे में बतलाया है कि वह विषम नहीं है, बल्कि समाधान योग्य है।

इस अन्तर का सहज समाधान यह है कि जीवन के व्यापार में हमारा दृष्टिकोण और हमारी मनःगत "स्व" में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए; बल्कि संयम, साधना और संत-समागम की त्रिगुणात्मक शक्ति से 'स्व' की शृंखलाओं को तोड़ना चाहिए और 'पर' की गुणमाला का गुम्फन करना चाहिए।

उपसंसार में मुझे यही कहना है कि जीवन में माधुर्य की प्रतिष्ठा करने के लिए जब संत-समागम और धार्मिक प्रवचनों का श्रवण, प्रभावकारी होगा, तब संयम और साधना से हमारा मन नियंत्रित होगा; तभी उसमें 'पर' के प्रति पवित्र प्रेरणा का उदय होगा; और जब तक मानव के मन-मन्दिर में 'पर' का पुनीत प्रकाश नहीं हो जाता है, तब तक जीवन के लिए अपेक्षित माधुर्य की उपलब्धि भी संदिग्ध ही समझनी चाहिए।

दिनांक :	स्थान :
८—८—५६	बेंगलोर

एक प्रश्न : एक समस्या !

जब आप माँग कर खाना पसंद नहीं करते, जब आप माँग कर पहनना पसंद नहीं करते, जब आप मुफ्त में ट्राम, बस, रेल और सिनेमा का टिकट न लेकर सफर करना, और खेल देखना, पसन्द नहीं करते हैं।

और—

नहीं आप मकान का किराया अदा किये मकान में रहना सभ्यता समझते हैं, तो फिर आप माँग कर पुस्तकें पढ़ना ही क्यों पसन्द करते हैं ?

यह हमारा एक प्रश्न है !

यह हमारी एक समस्या है !

—प्रकाशक